दयानीरा

ध्यानम् अंक ४

आवरण : इष्टिका मन्दिर, धमना खुर्द,
फतेहपुर (उ० प्र०)
लगभग ६ वीं शती० ई०

छाया : अमर सिंह

मूल्य : रु० ७०/– मात्र
(पुस्तकालय संस्करण)

युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति, लखनऊ
३/१, आफीसर्स कालोनी
कैसरबाग, लखनऊ उ० प्र०

ध्यानम्

वार्षिक १९८४ चतुर्थ अंक

कार्यकारी सम्पादक

राकेश तिवारी

युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति उ० प्र०

लखनऊ

आदरणीय गुरु जी को

सादर

राकेश
2.1.87

1905–1979

हॉकी के जादूगर

पद्मभूषण मेजर ध्यानचन्द जी

को

पुण्य-स्मृति में

सम्पादकीय

ध्यानम् के प्रस्तुत अंक की पहली 'पौरी' पर सुविज्ञ पाठकों का ध्यान प्राचीन भारतीय वास्तु के अत्याकर्षक विधान 'प्रतोली' की ओर आकर्षित कराया जा रहा है। अब तक उसके बारे में सामान्यतः यह जाना जाता रहा है कि यह दुर्गों एवं मन्दिरों के प्रवेशद्वारों के रूप में बनायी जाती रही और कालान्तर में प्रवेशद्वार की पर्याय बन गयी जिसका अपभ्रंश पौरी, पौलि आदि हुआ किन्तु प्रतोली कैसी होती है ? इसकी जानकारी विभिन्न मौलिक एवं क्षेत्रीय पुस्तकों का अवगाहन करके श्री अमर सिंह द्वारा अपने सचित्र लेख में दी गयी है। निश्चय ही इससे प्राच्य वास्तुविद्या के जिज्ञासुओं को महत्वपूर्ण तथ्यों का ज्ञान हो सकेगा।

दूसरी 'पौरी' पर डा० सुधाकर मिश्र द्वारा साकेत के बौद्ध कवि अश्वघोष के काव्यों पर ब्राह्मण धर्म के प्रभाव की सम्यक विवेचना गागर में सागर की तरह सम्बन्धित तथ्यों का परिचय करा रही है। तीसरे लेख में श्रीमती सुनीति पाण्डे ने शिशु-कल्याण के देवता 'नैगमेष' की विभिन्न मृण्मूर्तियों का वर्गीकृत विवरण प्रस्तुत किया है। गंगा-यमुना-घाटी में लगभग सभी जगह उत्खनन से बहुसंख्यक नैगमेष-मृण्मूर्तियां पायी गयी हैं। स्थान और क्षेत्र के अनुसार इनमें कुछ विशेषतायें दिखती हैं जिनका वर्गीकृत विवरण अपेक्षित रहा है। श्रीमती पांडे का यह लेख मुख्यतः अहिच्छत्र, कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र, कुम्हरहार और वैशाली के संदर्भ में इस अपेक्षा की आंशिक पूर्ति कर रहा है।

भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के तत्वों को समझने के लिये पड़ोसी देशों के प्राचीन और आधुनिक ऐतिहासिक स्रोतों का अध्ययन अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से श्रीमती सुषमा मणि द्वारा 'प्राचीन लिच्छवि शासन और आधुनिक नेपाल में उसके तत्वों' पर प्रस्तुत लेख महत्वपूर्ण है। इससे न केवल नेपाल वरन् उससे लगे हुए भारत के तराई-क्षेत्र में प्रचलित 'माना' और 'मानिका' आदि शब्दों के लिच्छवि शासन से सम्बद्ध होने की रोचक जानकारी मिलती है।

ध्यानम् के इस अंक में उत्तराखण्ड की प्राचीन शिल्प-कला पर चार महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किए गए हैं। श्री चन्द्र सिंह बिष्ट द्वारा प्रस्तुत 'कुमाऊँनेश्वर महादेव' लेख के अन्तर्गत कुछ ऐसी प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है जो शैली और कला की दृष्टि से कुमाऊँ की प्रस्तर-मूर्तियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। श्री श्यामानन्द उपाध्याय ने अल्मोड़ा जिले में मिली वाराहारूढ़ा वाराही प्रतिमा की दुर्लभ जानकारी दी है। सामान्यतः

वाराही की महिषारूढ़ा और प्रेतासना प्रतिमाएं मिलती हैं। गुजरात, राजस्थान और उड़ीसा से कुछ वाराहारूढ़ा वाराही की मूर्तियाँ भी प्रकाश में आयी हैं किन्तु उत्तर प्रदेश से अब तक ज्ञात प्रतिमाओं में अल्मोड़ा की ऊपर उल्लिखित प्रतिमा अपना तरह की अकेली है।

श्री वीरेन्द्र कुमार तिवारी और श्री हेमराज द्वारा उल्लिखित कामदेव (?) की प्रतिमा अनेक कारणों से दुर्लभ है (चित्र सं० ९)। यद्यपि विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों में कामदेव के अनेकानेक प्रसंग और लक्षण मिलते हैं किन्तु उनकी प्रतिमाएं अत्यल्प ही हैं। यही स्थिति इस सर्वलोकप्रिय देवता के मंदिर की भी है। उत्तराखण्ड में तो कदाचित यह कामदेव से सम्बन्धित अब तक ज्ञात एकमात्र प्रस्तर-प्रतिमा है। अल्मोड़ा जनपद के गड़सेरा ग्राम से प्रकाश में आयी इस प्रतिमा में ललितासन में विराजमान देवता को किरीट मुकुट, कुण्डल, और केयूर आदि वस्त्राभूषणों से सज्जित और शर, पद्म, मकरध्वज और पुष्पधनुष धारण किये दर्शाया गया है। सिर के ऊपर कदली-वृक्ष, दायें पार्श्व में गदा और नीचे वाहन प्रदर्शित हैं। पद्म और गदा के अतिरिक्त अन्य लक्षण मत्स्यपुराण के देवतार्चानुकीर्तन प्रसंग में प्रतिमा-लक्षण नामक अध्याय २६१ में उल्लिखित कामदेव के प्रतिमा-लक्षणों के अनुरूप हैं। तदनुसार 'उनके एक पार्श्व में मकर की ध्वजा के समेत अश्वमुख का निर्माण करना चाहिए। दाहिने हाथ में पुष्प का बांण तथा बायें हाथ में पुष्पमय धनुष होना चाहिए। दाहिनी ओर भोजन की सामग्रियों के साथ प्रीति की प्रतिमा होनी चाहिए। बांयी ओर रति की प्रतिमा तथा सारसयुक्त शैय्या हो। उसी के बगल में वस्त्र, नगाड़ा तथा कामलोलुप खर होना चाहिए। प्रतिमा के एक बगल में जल की बावली तथा नन्दनवन हो। इस प्रकार भगवान कुसुमायुध को प्रयत्नपूर्वक अतिसुन्दर बनाना चाहिए। प्रतिमा की मुद्रा कुछ वंकिम हो, मुख विस्मययुक्त कुछ कुछ मुस्कराता हुआ हो।[1]

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि द्विभुजं कुसुमायुधम्।
पार्श्वे चाश्वमुखं तस्य मकरध्वज संयुतम् ॥५३॥

दक्षिणे पुष्पबाणं च वामे पुष्पमयं धनुः।
प्रीतिः स्याद् दक्षिणे तस्य भोजनोपस्करान्विता ॥५४॥

रतिश्च वामपार्श्वेतु शयनं सारसान्वितम्।
पटश्च पटहश्चैव खरः कामातुरस्तथा ॥५५॥

पार्श्वतो जलवापी च वनं नन्दनमेव च।
सुशोभनश्च कर्तव्यो भगवान कुसुमायुधः ॥५६॥[2]

इस प्रकार अल्मोड़ा की प्रश्नगत प्रतिमा में प्रदर्शित मकरध्वज, पुष्पधनुष और वाहन खर? अश्व? भगवान कुसुमायुध अथवा कामदेव के मत्स्य पुराण में उल्लिखित उपर्युक्त विवरण के

१ मत्स्य पुराण– अनुवादक श्री राम प्रताप त्रिपाठी, शास्त्री,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३, पृ० ७०३।

२ मत्स्य पुराण– गीता प्रेस, गोरखपुर (कल्याणांक)

अनुरूप है । कदली-वृक्ष कदाचित नन्दनवन का प्रतीक है । किन्तु गदा और पद्म का प्रदर्शन कामदेव के साथ करने का विधान नहीं है । ये लक्षण भगवान विष्णु के विभिन्न रूपों के साथ दर्शाये गये हैं । विष्णु के अवतार प्रद्युम्न ही ऐसे देवता हैं जो कामदेव के भी द्वितीय अवतार माने गये हैं । उनकी प्रतिमा में कामदेव के लक्षणों के साथ विष्णु के लक्षण भी रूपांकित किये जा सकते है । अतः प्रश्नगत प्रतिमा की पहिचान कदाचित प्रद्युम्न से करना युक्तिसंगत होगा ।

उत्तराखण्ड से सम्बन्धित चौथा लेख श्री बुद्धि प्रकाश बड़ोनी द्वारा प्रस्तुत किया गया है । इसमें गढ़वाल क्षेत्र के दो अब तक अप्रकाशित दुर्लभ मन्दिरों 'अत्रिमुनि मन्दिर' (जनपद चमोली) और 'घण्डियाल मन्दिर' (जनपद पौड़ी गढ़वाल) के वास्तुशिल्प का विवरण दिया गया है । चमोली जनपद से तो यद्यपि इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे मन्दिर सुज्ञात हैं लेकिन पौड़ी गढ़वाल में कदाचित यह पहला वलभी मन्दिर पाया गया है । कुछ समय पूर्व तक उत्तर भारत में वलभी मन्दिरों के निर्माण की परम्परा को बहुत कम प्रचलित माना जाता रहा है लेकिन विगत दस वर्षों में उत्तराखण्ड से प्रकाश में आये अनेक वलभी मन्दिरो ने इस धारणा को काफी भंग किया है । इस क्रम में इन मन्दिरों की जानकारी से अब उत्तराखण्ड में वलभी मन्दिरों की संख्या २० से अधिक हो गयी है । उल्लेखनीय है कि उत्तर प्रदेश के मैदानी क्षेत्र से अब तक इस शैली के मात्र दो मन्दिर फतेहपुर जनपद में सरहन बुजुर्ग और मथुरा (मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित) से ज्ञात हो सके हैं । घण्डियाल धार के मन्दिर का शिव से सम्बद्ध होना उसकी अतिरिक्त विशेषता है क्योंकि अब तक ज्ञात अधिकांश वलभी-मन्दिर देवी-मन्दिर हैं ।

उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन द्वारा लखनऊ के निकट हुलासखेड़ा में कराये जा रहे पुरातात्विक उत्खनन से सम्बन्धित तीन लेख इस अंक में प्रकाशित हैं । यद्यपि इस उत्खनन के विषय में पहले भी कुछ लेख प्रकाशित हुए हैं किन्तु उनके प्रकाशन के बाद से अब तक चल रहे उत्खनन द्वारा बहुत सी नयी जानकारी मिली है साथ ही पर्याप्त विचारोपरान्त कुछ पूर्वोल्लिखित मतों में संशोधन की पर्याप्त संभावना प्रतीत होती है । अतः इस अंक में प्रस्तुत पहले लेख में अब तक की उपलब्धियों का सामान्य समन्वित परिचय कराया गया है । दूसरे लेख में हुलासखेड़ा उत्खनन से प्रकाशित कुषाण-कालीन इष्टिका-निर्मित मार्ग और मन्दिर-वास्तु का विस्तृत विवरण दिया गया है । तीसरे लेख में यहां के विभिन्न स्तरों की वास्तु संरचनाओं में प्रयुक्त 'मसाले' के वैज्ञानिक अध्ययन से ज्ञात तथ्यों की विवेचना की गयी है । तद्नुसार गारे में चूने के घटते-बढ़ते अनुपात के अनुसार उसके उपयोग के बारे में तत्कालीन शिल्पियों के ज्ञान का अनुमान लगाने में सहायता मिल सकती है । इस अध्ययन से भारत में सैन्धव सभ्यता और कालान्तर में भीतरी, भुवनेश्वर और कोणार्क आदि के प्राचीन मन्दिरों और अन्य संरचनाओं में प्रयुक्त 'प्लास्टर' में चूने के साक्ष्यों के क्रम में भारत में लगभग तृतीय सहस्राब्दी ई०पू०

---

१ सिंह, आर० एन०, जैन० के० के०—स्टडीज इन एन्शेन्ट बिल्डिंग मटीरियल्स : ए नोट आन भीतरी प्लास्टर, **पुरातत्व नं० १**, पृ० १०३-४

से ही गारे और 'प्लास्टर' में चूने के प्रयोग किये जाने की धारणा को और अधिक बल मिलता है।

संक्षिप्त लेखों के अन्तर्गत प्रकाशित चन्द्र गुप्त द्वितीय की दुर्लभ स्वर्णमुद्रा जिस पर 'नरेनचन्द प्रथतर' और 'सहवक्रमः' अंकित है, गणपति नाग की पहचान से सम्बन्धित लेख तथा अन्य सूचनाएं भी उपयोगी सिद्ध होनी चाहिए। इस प्रकार ध्यानम् के चौथे अंक में उपर्युक्त सामग्री प्रस्तुत करते हुए हमें स्वाभाविक रूप से हर्ष का अनुभव हो रहा है।

ध्यानम् के इस अंक में उत्खनन एवं सर्वेक्षण से प्रकाश में आयी महत्वपूर्ण पुरासामग्री के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने के लिए हम श्री विष्णु प्रसाद माथुर, निदेशक, उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन के आभारी हैं। श्री राम गोपाल मिश्र और श्री बलरामकृष्ण द्वारा समय-समय पर उल्लेखनीय सहयोग मिलता रहा है। सीमित साधनों में भी ध्यानम् को प्रकाशित कर सकने में श्री कौशल किशोर सक्सेना, अल्मोड़ा द्वारा प्राप्त सक्रिय सहयोग के लिए ध्यानम्-परिवार सदैव उनका ऋणी रहेगा, उन्होंने अल्मोड़ा से ध्यानम् के लिए विज्ञापन जुटाकर हमारी आर्थिक समस्या को बहुत हद तक दूर करने का दुष्कर कार्य किया है। इस अंक के मुद्रण के संदर्भ में श्री श्यामानन्द उपाध्याय और श्री विश्व मोहन (पुनार मुद्रक) के भी हम हृदय से आभारी हैं।

ध्यानम् परिवार और अपनी ओर से ध्यानम् के प्रकाशन के संदर्भ में युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति, लखनऊ के संचालक श्री श्याम सुन्दर शर्मा (आईरन मैन) को जितना भी धन्यवाद ज्ञापन किया जाये कम ही होगा। ध्यानम् का समस्त संगठनात्मक कार्य और उसके लिये सबसे महत्वपूर्ण धन की व्यवस्था उन्हीं के समर्थ व्यक्तित्व के लिये संभव हो पा रही है। श्री शर्मा ने पुरातत्व से बहुत हद तक असम्बद्ध होते हुए भी, हाकी के जादूगर ध्यानचन्द्र जी की स्मृति में पुरातत्व सम्बंधी लेखों के प्रकाशन हेतु ध्यानम् जैसी शोध-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ करके खेल-भावना, अध्ययन और संस्कृति आदि के समन्वय का जो प्रयास किया है आशा है उसकी उपादेयता से विद्वान पाठक भी सहमत होंगे।

राकेश तिवारी

विषय सूची

संक्षिप्त लेख

अमर सिंह*

प्रतोली

'प्रतोली' शब्द का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत, हर्षचरित, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा, पृथ्वीचन्द्रचरित, प्रभावकचरित, कथासरित-सागर आदि ग्रंथों में मिलता है। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त प्रथम के बिलसद स्तम्भ लेख, ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मन्दिर अभिलेख (८७६ ई०) तथा पृथ्वीराज के हन्सी अभिलेख में भी यह शब्द आया है।[1]

अमरकोश में 'प्रतोली' शब्द को रथ्या का पर्यायवाची बतलाया गया है।[2] इस आधार पर कतिपय विद्वानों ने इसका अर्थ 'किसी नगर का मुख्य मार्ग', 'आम सड़क' अथवा 'गली' लिया है।[3] परन्तु विभिन्न उद्धरणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि 'प्रतोली' का प्रयोग सामान्यतः ऐसी संरचना के लिए किया गया है, जिसका सम्बन्ध दुर्ग, प्रासाद अथवा मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों से था।

दुर्ग-विधान के प्रसंग में कौटिल्य ने कहा है कि दो अट्टालिकाओं के मध्य प्रतोली का निर्माण किया जाना चाहिए, जिसकी लम्बाई चौड़ाई की ढाई गुनी हो।[4] कौटिल्य द्वारा उल्लिखित 'प्रतोली' शब्द को आधुनिक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में लिया है। एक अनुवाद के अनुसार इसका अर्थ, 'एक, ऐसा घर जिसकी दूसरी मंजिल में जनानखाना (हरम)' रहे किया गया है।[5] परन्तु यह अनुवाद उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि संस्कृत के 'हर्म्य' शब्द को फारसी के 'हरम' के अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए। वस्तुतः 'हर्म्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय शास्त्रों में प्रासाद-वास्तु की एक विधा के रूप में किया गया है।[6] शामशास्त्री द्वारा किये गये अर्थशास्त्र के अनुवाद में प्रतोली का अर्थ, 'एक चौड़ी सड़क जिसके ऊपर द्विभौमिक भवन का निर्माण किया गया हो' किया गया है।[7]

*उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी, कैसरबाग, लखनऊ।

रामायण में वर्णित अयोध्या और लंका आदि नगरियों के प्रसंग में 'प्रतोली' शब्द का प्रयोग किसी भवन-संरचना के लिए हुआ है।[८] इसी प्रकार महाभारत में प्रतोली को दुर्ग-विधान का एक अंग बतलाते हुए उसे सुरक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं गोपनीय माना गया है।[९] हर्षचरित, पृथ्वीचन्द्रचरित, प्रभावकचरित, कथासरितसागर, कुमारगुप्त प्रथम के बिलसद स्तम्भ-लेख तथा पृथ्वीराज के हन्सी अभिलेख में 'प्रतोली' शब्द का उल्लेख ऐसी संरचना के लिए किया गया है जिसका सम्बन्ध प्रवेश-द्वार, प्राकार, दुर्ग, प्रासाद अथवा मन्दिर-वास्तु से था।[१०] परन्तु इन उद्धरणों में 'प्रतोली' की स्थिति, संरचना तथा वास्तुगत विशेषताओं के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है।

समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा तथा जयपृच्छा नामक वास्तुशास्त्रीय ग्रंथों में प्रतोली की रचना तथा उसकी वास्तुगत विशेषताओं का परिचय मिलता है। समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार पुर (नगर अथवा दुर्ग) के राजमार्गों तथा महारथ्याओं पर चारों दिशाओं में तीन-तीन द्वार बनाने चाहिए। राजमार्गों के चारों महाद्वारों का विस्तार नौ, आठ, सात हाथ होना चाहिए तथा महारथ्याओं के द्वारों का विस्तार छः, पांच और चार हाथ होना चाहिए। सभी महाद्वारों में सुदृढ़ प्रतोलियां बनायी जानी चाहिए। उनका निकास राजमार्ग के समान चौड़ा हो। वे दो मूषाओं से युक्त आयताकार या चौकार निर्मित की जानी चाहिए तथा उनके बीच का भाग सुदृढ़ फाटक, अर्गलाओं तथा काष्ठकर्म से त्रिभौमिक होना चाहिए।[११]

अपराजितपृच्छा तथा जयपृच्छा में प्रतोली के तीन प्रमुख अंग बतलाये गये हैं: (१) स्तम्भ, (२) भारपट्ट और (३) तोरण। जयपृच्छा का उल्लेख है कि स्तम्भ की ऊँचाई का तीन भाग करके उसके दूसरे भाग से तोरण का निर्माण करना चाहिए। दोनों ही वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों में तोरण की रचना का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें परस्पर बहुत कुछ समानता है। इन ग्रंथों के अनुसार तोरण पर पहले त्रिभंग मदला निकालकर उसके पार्श्व में कुम्भी, भरण (भरणी) और घट-पल्लव तथा हीरग्रहण (शीर्ष वाली स्तम्भिका) का निर्माण करना चाहिए। उसके ऊपर निर्व्यूह निकालकर पुनः मदला बनाना चाहिए और उसके शीर्ष पर दो स्तम्भिकाएँ अलंकृत करनी चाहिए। तत्पश्चात् पुनः निर्व्यूह निकालकर मदला आदि की रचना करनी चाहिए। (निर्व्यूह के अन्त में) तोरण पर दोनों ओर दाँतों से युक्त मकरी का रूप बनाना चाहिए। उसके उपरान्त शीर्ष के ऊपर तन्त्रक-युक्त पट्ट (भारपट्ट) तथा द्वार-शाखाओं के ऊपर उत्तरंग रखना चाहिए।[१२] (रेखा चित्र सं० १)

इन प्रतोलियों को उनकी ऊँचाई के आधार पर उत्तम (ज्येष्ठ), मध्यम और कनिष्ठ तीन कोटियों में विभक्त किया गया है। अपराजितपृच्छा में पन्द्रह हाथ की ऊँची प्रतोली को उत्तम (शुभ), तेरह हाथ की ऊँची प्रतोली को मध्यम तथा ग्यारह हाथ की ऊँची प्रतोली को कनिष्ठ कहा गया है। इसी ग्रंथ के एक अन्य वर्गीकरण में उत्तम कोटि की प्रतोली त्रिभौमिक तथा कनिष्ठ प्रतोली एक भौमिक बतलायी गयी है।

अपराजितपृच्छा के अनुसार उत्तम कोटि की प्रतोली का विस्तार आठ हाथ, मध्यम

कोटि की प्रतोली का विस्तार सात हाथ तथा कनिष्ठ प्रतोली का विस्तार छः हाथ होना चाहिए । परन्तु जयपृच्छा में उत्तम कोटि की प्रतोली का विस्तार नौ हाथ, मध्यम कोटि की प्रतोली का विस्तार आठ हाथ तथा कनिष्ठ का सात हाथ बतलाया गया है । इसी ग्रंथ में कहा गया है कि प्रतोली की ऊँचाई उसके विस्तार की दो गुनी हो अर्थात उत्तम कोटि की अठारह हाथ, मध्यम कोटि की सोलह हाथ तथा कनिष्ठ प्रतोली की ऊँचाई चौदह हाथ होनी चाहिए । ऊँचाई का सातवां अंश प्रतोली का निकास-द्वार होना चाहिए ।
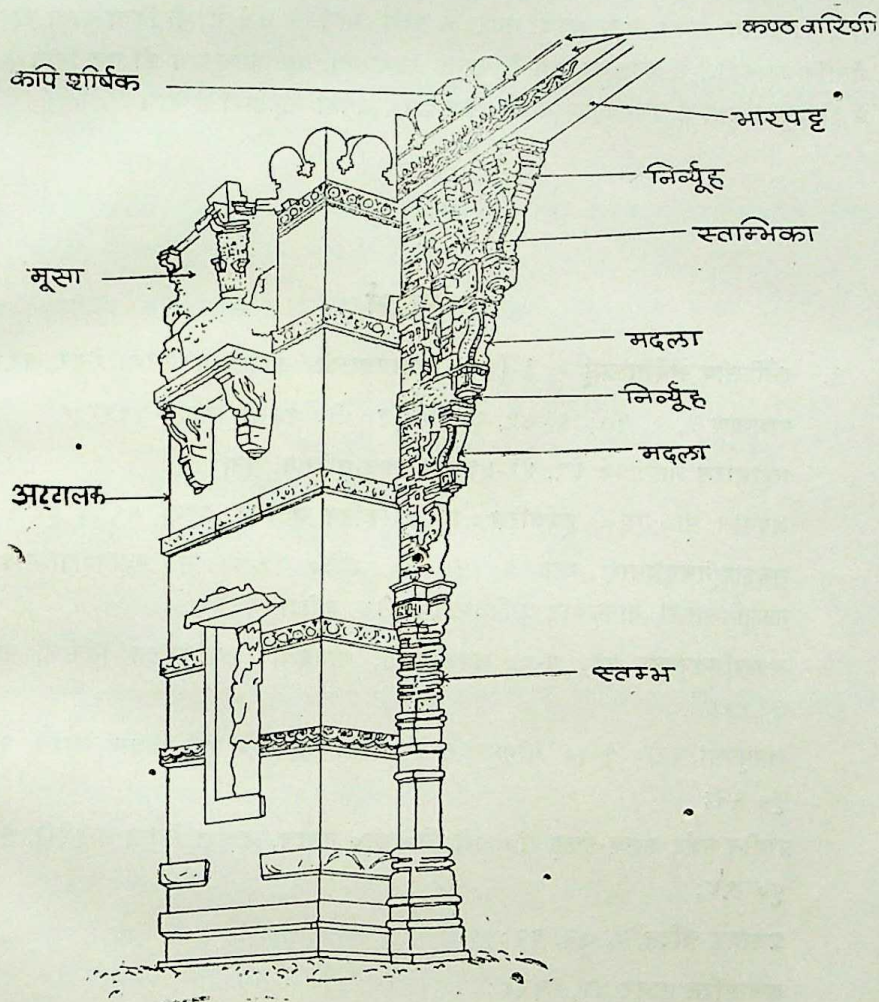
रेखा चित्र सं० १—प्रतोली

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दुर्ग, प्रासाद और मन्दिरों के द्वारों अथवा महाद्वारों में प्रतोली की रचना प्राकारादि के साथ दो अट्टालिकाओं के मध्य स्तम्भ, तोरण और भार-

पट्टों आदि के संयोग से की जाती थी। इसके निर्माण का उद्देश्य साधारण प्रवेश-द्वारों को अलंकृत करना और उन्हें सुदृढ़ता प्रदान करना था। द्वारों के साथ प्रतोली के संयोजन से उनकी शोभा में अभूतपूर्व वृद्धि हो जाती थी। जिस प्रकार दक्षिण भारत के गोपुर-द्वारों और साधारण द्वारों की रचना में भिन्नता होती है, उसी प्रकार साधारण द्वारों और प्रतोली में भी वास्तुकलात्मक भेद था। कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग 'प्रवेश द्वार' के अर्थ में भी किया जाने लगा। मध्य भारत और गुजरात में प्रवेश-द्वार के लिए प्रयोग किया जाने वाला 'पौर', 'पोल' अथवा 'पौरी' शब्द 'प्रतोली' का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। यह भी संभव है कि इस शब्द का प्रयोग रथ्या, गली अथवा नगर के मुख्य मार्ग के अर्थ में भी किया जाता रहा हो, जैसाकि अमरकोश में बतलाया गया है, परन्तु सामान्यतः यह वास्तुकला की एक विधा के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, जिसका सम्बन्ध प्रवेश-द्वारों अथवा महाद्वारों से था।

सन्दर्भ

१. **कौटिलीय अर्थशास्त्रम्** २, ३ (अनु०) शामशास्त्री, आठवां संस्करण, मैसूर, १९६७;

रामायण ५, २, १७; ६, ७५, ६, सं० एच० पी० शास्त्री, लन्दन १९५२;

महाभारत शान्तिपर्व ६९, ५२-५३, क्रिटिकल एडिसन, पूना;

अग्रवाल, वी० एस०, **हर्षचरित्र : एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पटना, १९६४, पृ० २१५;

समराङ्गणसूत्रधार, भाग १, अ० १०, श्लो० ३५-४० सं० महामहोपाध्याय टी० गणपतिशास्त्री, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा, १९६६;

अपराजितपृच्छा ८३, १-८, भुवनदेवकृत, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ोदा, १९५०;

जयपृच्छा, श्लो० १-१०, सोमपुरा तथा ढाकी, भारतीय दुर्ग विधान, बम्बई, १९७६ पृ० ६२;

प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह, सं० श्री सी० डी० दलाल, बड़ोदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी, १९२० पृ० ९४;

प्रभावक चरित, ४, ७२, ३२;

कथासरित सागर ४२, १२४;

फलीट, जे० एफ०, **कार्पस इन्स्क्रिप्सन इण्डिकेरम**, खण्ड ३, इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९६३, पृ० ४५;

एपीग्रैफिया इण्डिका, जि० १, पृ० १५९;

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जि० ४१, पृ० १७-१९;

२. 'रथ्या प्रतोली विशिखा स्यात्'
अमरकोश २, २, ३ एन० एस० प्रेस, बम्बई १९४४

३. **शब्दकल्पद्रुम**, तृतीय खण्ड, कलकत्ता, १९१३, पृ० २६९; **वाचस्पत्यम्,** संस्कृत-हिन्दी कोश, सं० वामन आप्टे, वराणसी १९६६

४. 'द्वयोरट्टालकयोर्मध्ये सहर्म्यद्वितलां द्वयर्धायामां प्रतोलीम् कारयेत्'
कौटलीय अर्थशास्त्रम् २, ३

५. **कौटिलीय अर्थशास्शम्** १, ३, १५ अनु० श्री वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२

६. कुमारस्वामी, ए० के०, इण्डियन आर्कीटेक्चरल टर्म्स, **जर्नल आफ एशियाटिक ओरिएन्टल सोसायटी**, भाग ४८, नं० ३, पृ० २५८

७. **कौटिल्य अर्थशास्त्रम्** २, ३ अनु० आर० शामशास्त्री, मैसूर, १९६७

८. पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम् ।
अट्टालकशताकीर्णां पताका ध्वजशोभिताम् ॥
वाल्मीकि रामायण ५, २, १७ गीता प्रेस, गोरखपुर
गोपुराट्ट प्रतोलीषु चर्यासु विविधासु च
प्रासादेषु च संहृष्टाः ससृजुस्तें हुताशनम् ॥
वाल्मीकि रामायण ६, ७५, ६ गीताप्रेस, गोरखपुर

९. **महाभारत** १२, ६९, ५२-५३; १४, २५, २१

१०. श्रीवास्तव, ए० एल०, प्रतोलीः ए पार्ट आफ एन्शिएन्ट इण्डियन आर्कीटेक्चर, **भारतीय विद्या**, भाग ३२, १९७२, पृ० १-६

११. राजमार्गमहारथ्यासंश्रितानि चतुर्दिशम् ।
त्रीणि त्रीणि विधेयानि पुरे द्वाराणि तद्विदा ॥३५॥
राजमार्गमहाद्वारचतुष्कं विस्तरान्नव ।
अष्टौ सप्त करा नौर्व्या द्विगुणं त्रिकरोज्झितम् ॥३६॥
महारथ्याश्रयं द्वारं तत् षट्पञ्चचतुष्करम् ।
उच्छ्रयात् सार्धसार्धैकहस्तोनं विस्तरेण तत् ॥३७॥
कुर्यात् प्रतोलीः सर्वेषु महाद्वारेष्वथो दृढाः ।
दृढार्गलाश्चेन्द्रकीलाः कपाटपरिघान्विताः ॥३८॥

राजमार्गसमा शाला स्यात् प्रतोलीविनिर्गमा ।
तदर्धं कोष्ठकान्तः स्याद् व्यासोऽध्यर्धं तयोः स्मृतः ॥३९॥
चतुरश्रामिति न्यस्य प्रतोलीं वदनायताम् ।
व्यासतस्त्र्यंशविन्यस्तमार्गां मूषाद्वयान्विताम् ॥४०॥
समराङ्गण० १०, ३५-४०

१२. पादेनं च प्रकर्तव्यं सार्धं वा तत्प्रमाणतः ।
···उच्छ्रयं कार्यं त्रिविधं उच्छ्रयं स्मृतम् ॥५॥
विस्तारं द्वादशांशेन षोडशांश दशमेव च ।
स्तम्भस्य विस्तरं कार्यं त्रिविधं तत्प्रमाणतः ॥६॥
उच्छ्रयं तत्प्रकर्तव्यं पूर्वमान समन्वितम् ।
उच्छ्रयं च त्रिभिर्भक्तं द्वितीयामेव तोरणम् ॥७॥
तस्योर्ध्वे प्रथमं कार्यं द्वितीयं तु + + वेत ।
दंष्ट्रश्च प्रकर्तव्यं मकरीरूप संयुतम् ॥८॥
विस्तारः मदला कार्याः त्रिभङ्गे ललितान्वितः
स्तम्भः (कुम्भि च) संयुक्तं भरणं (पल्लवै) र्युतम् ॥९॥
तस्योर्ध्वे हीरग्रहणं कर्तव्यं तस्य शोभनम् ।
पट्टं च उपरे कार्यं तन्त्रकै सु समंयुतम् ॥१०॥
जयपृच्छा, श्लो० ५-१०; सोमपुरा तथा ढाकी, भारतीय दुर्ग विधान, पृ० ६३
नवहस्तोच्छ्रिताः स्तम्भाः कुम्भकै सुसमन्विताः ।
तदद्वेक द्वित्रिक्षणाः मालिकाश्चह्यनुक्रमात् ॥५॥
मदलाः शीर्षस्तम्भिका निर्व्यूहे मदलाः पुनः ।
शीर्षोद्वे स्तम्भिकाद्वयं निर्व्यूहे मदलाः पुनः ॥६॥
शीर्षोर्ध्वे च भवेत्पट्टः शाखाद्यं चोत्तरङ्गकम् ।
तुला जयन्ती (पीतासा ?) निर्मलं कपि शीर्षकम् ॥७॥
तदूर्ध्वे च पुनर्भूमिश्चतुर्द्वार तृतीयके ।
द्रढ़ार्गलाः कपाटाश्चाऽपरकास्ततः परम् ॥८॥
अपराजित० ८३, ५-८

१३. प्रतोलीश्च प्रवक्ष्यामि कनिष्ठ मध्यमोत्तमा ।
उच्छ्रयस्त्रिविधो वत्स ! द्वारांप्राकारतोवि च ॥
अपराजित० ८३, १

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रतोल्यानां च लक्षणम् ।
ज्येष्ठ मध्यम कनिष्ठं (प्रत्येक ? उच्छ्रयं) त्रिविधम् स्मृतम् ॥
जयपृच्छा, श्लो० १, सोमपुरा तथा ढाकी, भारतीय दुर्ग विधान, पृ० ६३

१४. प्रतोल्याद्वार उत्सेधः पञ्चदशकरैः शुभः ।
मध्यस्त्रयोदश करैः रुद्रहस्तैः कनिष्ठकः ॥२॥
कनिष्ठमेकभूमं च द्विभूमं चैव मध्यमम् ।
उत्तमं च त्रिभूमं स्यात् त्रिधोदित क्रमागतम् ॥३॥
अपराजित० ८३, २-३

१५. उत्तमं चाष्टहस्तैश्च सप्तहस्तैश्च मध्यमम् ।
कनिष्ठं चैव षड्हस्तैः विस्तारस्त्रिविधो मतः ॥
अपराजित० ८३, ४

१६. विस्तारं तु प्रकर्तव्य नवाष्ट सप्त हस्तकम् ।
विस्तारं (तु) समाख्यातं (दीर्घ ? दैर्ध्य) प्रमाणमेव च ॥२॥
विस्तारं द्विगुणं कार्यं पादोन सार्धमेव च ।
विस्तारं तत्समं कार्यं (दीर्घोर्धेन ? दैर्ध्योधेन) विस्तरम् ॥३॥
(दैर्ध्यस्य) सप्तमांशेन निर्गमं बाहुमेव च ।
(दीर्घ ? दैर्ध्य) विस्तारमाख्यातं उत्सेधं कथितं स्मृतम् ॥४॥
जयपृच्छा, सोमपुरा तथा ढाकी, भरतीय दुर्ग विधान, पृ० ६३

आभार

प्रस्तुत लेख तथा उसके संदर्भों के लिए लेखक प्रो० एम० ए० ढाकी तथा उनकी गुजराती भाषा में उल्लिखित पुस्तक सोमपुरा तथा ढाकी, भारतीय दुर्ग विधान, बम्बई, १९७१ का आभारी है ।

डा० सुधाकर मिश्र*

अश्वघोष के काव्यों पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव

संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों के विकास-क्रम में वाल्मीकि तथा कालिदास के मध्य की कड़ी के रूप में अश्वघोष का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने को आर्य सुवर्णाक्षी का पुत्र, साकेतक, भिक्षु, आचार्य, भदन्त, महाकवि और महावादी कहा है।[1] अश्वघोष का सम्बन्ध निर्विवाद रूप से कुषाण नरेश कनिष्क के साथ माना जाता है और उसे ही कनिष्क कालीन बौद्ध संगीत के अध्यक्षत्व का गौरव भी प्रदान किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी[2] माना जा सकता है। साहित्यिक दृष्टि से ये कालिदास के पूर्ववर्ती हैं।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती किन्तु उनकी कृतियों से ऐसा सङ्केत मिलता है कि उनका प्रारम्भिक जीवन अयोध्या (साकेत) में बीता। वे जात्या ब्राह्मण थे। उन्होंने सुसंस्कृत होकर, गुरुकुलों में विधिवद् वेदादि विद्याओं का अध्ययन किया था तथा ब्राह्मण धर्म में उनकी अटूट निष्ठा थी। पश्चाद् 'पार्श्व' से शास्त्रार्थ में पराजित होकर उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की[3] तथा पाटलिपुत्र अशोकाराम विहार में रहने लगे। कुछ विद्वान उन्हें पाटलिपुत्र के 'सुपुष्प' नामक लिच्छवि नरेश का दरबारी कवि भी सिद्ध करते हैं।[4] उन्हें अच्छा संगीतज्ञ भी माना गया है। दीक्षा लेने के बाद उनका सारा जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में व्यतीत हुआ। उन्होंने अपने प्रचार का माध्यम काव्य बनाया, जिससे नीरस विषय के प्रति भी सामान्य लोगों की रुचि जाग्रत हो सके तथा सरस होने के कारण लोग उसे सरलतापूर्वक हृदयङ्गम कर सकें।[5] इस प्रयोजन की सिद्धि हेतु उन्होंने जिन काव्यों का प्रणयन किया, उनमें तीन प्रमुख हैं—बुद्ध चरितम् (महाकाव्य), सौन्दरनन्द (महाकाव्य) तथा शारिपुत्र प्रकरण (दृश्य काव्य)। इन काव्यों में भगवान् बुद्ध के जीवनवृत्त

*पौराणिक तथा वैदिक अध्ययन एवं अनुसंधान संस्थान, नैमिषारण्य, सीतापुर।

धर्म तथा दर्शन का मुख्य रूप से वर्णन है किन्तु ब्राह्मण धर्म के प्रति सर्वत्र श्रद्धा दिखाई पड़ता है, जिनका स्पष्टीकरण अग्रिम शीर्षकों के अन्तर्गत द्रष्टव्य है—

१. वेद के प्रति निष्ठा

ब्राह्मण धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता है—श्रुति-प्रामाण्य। वेदों तथा स्मृतियों में प्रतिपादित सभी नियम अनिवार्य रूप से स्वीकार्य हैं। महाकवि अश्वघोष के काव्यों में वेदों के प्रति विशेष निष्ठा दिखती है। राजा शुद्धोदन को निरन्तर वेदाध्ययन करते हुए वर्णित किया गया है। इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वघोष अवश्य ही 'मनु स्मृति' के निम्नलिखित कथन से प्रभावित थे।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"[६]

वैदिक वाङ्मय के ही अध्ययन का प्रभाव था कि महाराज शुद्धोदन वैदिक धर्म का पालन करते हुए शासन कर रहे थे। उन्होंने जो भी कार्य किया, वह सज्जनों द्वारा प्रशंसित तथा श्रुति-सम्मत था। सोम-रस-पान का वर्णन वेदों में प्रायः प्राप्त होता है किन्तु परवर्ती साहित्य में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। जब कि अश्वघोष ने अपने दोनों महाकाव्यों में कई स्थलों पर सोम रस के पीने[७] का वर्णन किया है। 'सौन्दरनन्द' के द्वितीय सर्ग में ऐसा वर्णन मिलता है कि राजा शुद्धोदन प्रायः ब्राह्मणों को प्रचुर दान देकर सोम-रस तैयार कराते थे और उसे प्रजाओं में भी बँटवाते थे। इन काव्यों में प्रयुक्त कतिपय शब्द वैदिक वाङ्मय से प्रभावित हैं, यथा—'द्विज'[८] शब्द का 'अग्नि' के अर्थ में तथा 'श्री'[९] शब्द का 'उष्णता' के अर्थ में। 'रन्ध्रैर्नाचूचुद्द्भृत्यान्'[१०] वाक्यांश का प्रयोग ऋग्वैदिक वाक्यखण्ड 'रध्रचोदना' से प्रभावित है। 'बुद्ध चरित' (१३/६८) में 'नाभि' शब्द का 'अग्नि' तथा 'धामन्' शब्द का 'सोम' अर्थ लक्षणा से किया गया है। 'जान्सटन' के अनुसार 'सौन्दरनन्द' में 'वि' और 'उत्' उपसर्गों से रहित मात्र 'मा' धातु का प्रयोग 'शतपथ ब्राह्मण' का अनुकरण है, जहाँ ही मात्र इस धातु का इस रूप में प्रयोग प्राप्त होता है।[११] इसी प्रकार 'बुद्ध चरित' (१२/३०) में प्रयुक्त 'पोक्षण' तथा 'अभ्युक्षण' शब्दों का प्रयोग भी मात्र श्रौत सूत्रों में मिलता है। 'सौन्दरनन्द' (१५/४४) में प्रयुक्त 'निवर्त' शब्द, 'सौन्दरनन्द' (९/३०) में प्रयुक्त 'विमद' शब्द तथा 'बुद्ध चरित' (४/२४) में प्रयुक्त 'समारुह' शब्द अन्यत्र केवल ब्राह्मण ग्रंथों में ही प्राप्त होते हैं। प्रजापति द्वारा तपोबल से सृष्टि करने का वर्णन भी ब्राह्मणों से ही सम्बन्धित है। उपनिषदों के अधिकतर शब्द या वाक्यांश समान रूप से अश्वघोष के काव्यों में प्राप्त होते हैं। किन्तु सबसे प्रमुख समानता 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (१/२) और 'सौन्दरनन्द' (१६/१७) तथा 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (५/२) और 'बुद्ध चरित' (१२/२१) में प्राप्त होती है। इसी प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि 'वसिष्ठ' के लिए लौकिक साहित्य में कहीं भी 'और्वशेय' शब्द का प्रयोग नहीं प्राप्त होता (मात्र वैदिक साहित्य में यह प्रयोग मिलता है) जबकि 'बुद्ध चरित' (९/९) में ऐसा वर्णन

प्राप्त होता है। इस प्रकार अश्वघोष के काव्यों में वैदिक साहित्य की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।

२. बहुदेववाद

वेदों में एकेश्वरवाद के साथ ही साथ बहुदेववाद के भी दर्शन होते हैं। एक ही शक्ति के विभिन्न अंशों की विभिन्न देवों के रूप में कल्पना की गई है। इसी तथ्य को वेद में इस प्रकार कहा गया है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। अश्वघोष ने भी विविध देवताओं की सत्ता का वर्णन किया है। इन्द्र, जिसे देवताओं का राजा कहा जाता है, का उल्लेख सबसे अधिक बार मिलता है। उसके लिए संक्रन्दन, मघवा आदि विशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। प्रायः उसका अकेले वर्णन नहीं मिलता; उसके साथ आदित्य, मरुत् या कुबेर नामक देवताओं का भी वर्णन किया गया है। 'अश्वघोष' की इन कृतियों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि क्षत्रियों द्वारा इन्द्र तथा कुबेर की विशेष रूप से पूजा की जाती थी। इन्द्र की ध्वजा का कई श्लोकों में दृष्टान्त के रूप में प्रयोग किया गया है।[१२] मरुत् को इन्द्र का सहायक तथा जयन्त को उसका पुत्र बताया गया है। 'बुद्ध चरित' के एक श्लोक से ऐसा सङ्केत मिलता है कि सनत्कुमार जयन्त का ही दूसरा नाम था। इन्द्र के अत्यन्त प्रिय उपवन–नन्दन वन का भी वर्णन प्राप्त होता है। भगवान शङ्कर का उल्लेख मात्र बुद्ध चरित में मिलता है उनके लिए वहाँ स्थाणुव्रत, भव, वृषध्वज तथा शम्भु शब्दों का प्रयोग किया गया है। एक श्लोक में शैलेन्द्रपुत्री के प्रति कामासक्त होने की घटना का भी सङ्केत है।[१३] अन्य कई स्थलों पर भी शिव-पूजा के उल्लेख मिलते हैं। 'बुद्ध चरित' के प्रथम सर्ग में स्कन्द के जन्म का वर्णन है। 'सौन्दरनन्द' में प्रयुक्त 'सेनापति' शब्द भी संभवतः इसी तरफ सङ्केत करता है। 'जान्स्टन' के अनुसार 'ईश्वर द्वारा सृष्टि करने का वर्णन' शैव-परम्परा की विशेष प्रसिद्धि का द्योतक है। विष्णु का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। एक श्लोक में प्रयुक्त 'चक्रधर' शब्द का लक्षणया विष्णु अर्थ लिया जा सकता है। कृष्ण, बलराम, परशुराम और राम का वर्णन विष्णु के अवतार रूप में नहीं किया गया है। उन्हें लोकोत्तर गुणों से सम्पन्न लौकिक मानव के रूप में चित्रित किया गया है। 'सौन्दरनन्द' में 'उपेन्द्र' शब्द का प्रयोग सम्भवतः विष्णु के अर्थ में किया गया है। वहाँ उपेन्द्र को इन्द्र के समान बलशाली तथा इन्द्र की सभा को सुशोभित करने वाला बताया गया है।[१४] 'बुद्ध चरित' (२७/७९) में एक पक्षी का वर्णन आया है, जिसे तिब्बती अनुवाद में 'गरुड़' (विष्णु वाहन) नामक पक्षी सिद्ध किया गया है। राजा शुद्धोदन द्वारा ग्रहों की पूजा किये जाने का वर्णन भी मिलता है। 'प्रजापति' नामक देवता का उल्लेख ब्रह्मा तथा देव-विशेष के अर्थ में प्राप्त होता है। उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के चिन्तन किए जाने का वर्णन कई श्लोकों में प्राप्त होता है। इस प्रकार अश्वघोष की कृतियों में बहुदेववाद के दर्शन होते हैं।

३. तपस्या तथा यज्ञ

ब्राह्मण धर्म में तपस्या तथा यज्ञ-कर्म का प्रमुख स्थान है। अश्वघोष ने 'बुद्ध चरित'

के सप्तम सर्ग में तपस्या के विविध तरीकों तथा उनके फलों का वर्णन किया है। सर्वार्थसिद्ध जब तपोवन में सर्वप्रथम प्रवेश करते हैं और तपस्या के विषय में पूछते हैं तब एक तपस्वी इस प्रकार समझाता है—[15]

"जल में उत्पन्न या वन्य धान्य, पर्ण, जल, फल, कन्द आदि ही शास्त्राभिमत भोजन तपस्वियों के लिए कहे गये हैं। कुछ तपस्वी पक्षी की तरह बीने हुए धान्य खाकर जीते हैं, कुछ मृगों की तरह तृण चरते हैं, कुछ वाल्मीक (दीमक का घर) बनकर भुजङ्गों के साथ वनवायु से ही जीते हैं। कुछ कुछ तपस्वी पत्थर से कूट-पीसकर खाते हैं, कुछ अपने दातों से छिले अन्न खाते हैं, कुछ अतिथियों के लिए पकाकर यदि शेष बचता है, तो उसी से अपना आहार चलाते हैं। कोई जल से भीगे जटा कलाप वाले मंत्र से अग्नि में दो बार हवन करते हैं, कोई जल में प्रविष्ट होकर कछुवों से खुरचे गये शरीरों से मछलियों के साथ रहते हैं। इस प्रकार बहुत काल में संचित श्रेष्ठ तपों से वे (तपस्वी) स्वर्ग जाते हैं और साधना में असफल होने पर मनुष्य लोक में ही रह जाते हैं।"

'सौन्दरनन्द' के प्रथम सर्ग में तपस्या के लिए आवश्यक उपादानों पर प्रकाश डाला गया है। गौतम, कपिल, अराड-कलाम तथा रामपुत्र उद्रक नामक तपस्वियों का उल्लेख दोनों महाकाव्यों में हुआ है। इनके अतिरिक्त काषायवस्त्रधारी श्रमण, भस्म पोते हुए, कमण्डलु युक्त, वल्कलधारी साधक तथा जटाधारी मुनियों का भी वर्णन किया गया है।[16] इस प्रकार तपस्या की प्रचलित विविध विधाओं पर प्रकाश पड़ता है। तपस्या के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को आवश्यक बताया गया है। साधना के लिए अनुकूल स्थान, भोजन, इन्द्रिय-निग्रह, प्रज्ञा, स्मृति आदि के विषय में 'सौन्दरनन्द' के बारहवें सर्ग से सत्रहवें सर्ग तक विस्तार के साथ वर्णन है।

वैदिक परम्परा में यज्ञ का सर्वोपरि स्थान है। मनुस्मृति के अनुसार नित्य कर्मों से उत्पन्न दोषों के प्रायश्चित हेतु गृहस्थों के लिए पञ्च महायज्ञों का विधान किया गया है। इनके क्रमशः नाम हैं—ब्रह्मयज्ञ (अध्ययन-अध्यापन), पितृ-यज्ञ (तर्पण), दैवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि-वैश्वदेव) तथा नृ-यज्ञ (अतिथि पूजन)।[17] इनके अतिरिक्त नरमेध, गोमेध, तथा अश्वमेध आदि यज्ञ भी प्रचलित थे। इनमें से पञ्च महायज्ञों की सभी विधियों का वर्णन अश्वघोष ने किया है, किन्तु हिंसाप्रधान यज्ञों का विरोध किया है।[18] वास्तव में इन यज्ञों के विरोध में ही बुद्ध-धर्म का अभ्युदय हुआ था, किन्तु अश्वघोष केवल हिंसाप्रधान यज्ञों को ही अनुचित बताते हैं। इससे अश्वघोष के काव्यों में ब्राह्मण धर्म का स्पष्ट सङ्केत मिलता है। पुरोहितों द्वारा ब्रह्म-चिन्तन करना, वेदाध्ययन करना, स्वयं शुद्धोदन द्वारा वेदाध्ययन करना तथा मंत्री उदायी द्वारा सर्वार्थसिद्ध को नीतिविषयक उपदेश देना ब्रह्मयज्ञ के उदाहरण हैं। मुनि असित जब कुमार (सर्वार्थसिद्ध) को देखकर सास्रु हो गये तब राजा (शुद्धोदन) अनिष्ट की शङ्का से मुनि से पूछते हैं—"क्या बड़ी कठिनाई से प्राप्त जलाञ्जलि को पीने के लिये काल तो नहीं आ रहा है[19] ?" अर्थात् मृत्यु के पश्चात् जलाञ्जलि देने के लिए कुमार जीवित तो रहेगा न?

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पितृ-तर्पण का महत्व अश्वघोष को ज्ञात था। अग्नि के लिए 'हुतवह' शब्द का प्रयोग दैवयज्ञ की तरफ स्पष्ट सङ्केत है। हवि, हव्य, घृत आदि शब्दों तथा हवन के कारण अग्नि की लपटों के बढ़ने का वर्णन बहुधा किया गया है। होम के कारण उठने वाले धुएँ को बादल के समान बताया गया है। राजा शुद्धोदन के पुत्र-जन्म के दसवें दिन पुत्र के परम-कल्याण के लिए जप, होम, मङ्गल आदि कर्म के द्वारा देव-यज्ञ किया। धर्मशाला, कूप, उद्यान आदि का निर्माण भी दैवयज्ञ के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। कपिलवस्तु में शाक्य राजकुमारों द्वारा उद्यान, पुष्करिणी, धर्मशाला तथा कूप बनवाये जाने का वर्णन प्राप्त होता है।

प्राणियों को संतुष्ट करने के लिये भोजन करने से पूर्व निकाला गया भोज्य पदार्थ ब्रलि-वैश्वदेव (भूत यज्ञ) कहलाता है। इसके अतिरिक्त धन, वस्त्रादि के द्वारा मनुष्यों को तृप्त करना भी लक्षणया इसी के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। राजा शुद्धोदन के राज्य में कोई भी भुखमरी (दुर्भिक्ष) से त्रस्त नहीं था। नृ-यज्ञ का भी उल्लेख मिलता है। राजा शुद्धोदन विद्वानों की उपासना करता था। जब सर्वार्थसिद्ध तपोवन में तपस्वियों के मध्य अतिथि रूप में पहुंचते हैं तब तपस्वीगण सर्वप्रथम उसकी विधिवत् पूजा करते हैं। इसी तरह अराड-कलाम के समीप जाने पर भी उसका सर्वप्रथम स्वागत किया जाता है। राजा बिम्बि-सार राजगृह पहूंचने पर कुमार का अभिनन्दन करते हैं।

यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिए सहधर्मिणी का होना आवश्यक बताया गया है।[20] अश्ववोष कृत यज्ञ विषयक वर्णनों से 'स्वर्ग कामो यज्ञेत' की भावना ध्वनित होती है।

४. वर्ण-व्यवस्था

आर्यों ने समाज को चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभक्त किया था। इसका समर्थन वेद, गीता तथा स्मृतियों आदि में किया गया है। किन्तु बौद्ध धर्म ने इस व्यवस्था का डटकर विरोध किया। बौद्धों के अनुसार यह व्यवस्था समाज के एक वर्ग को सुख तथा समृद्धि प्रदान करती जा रही थी और एक वर्ग निरन्तर गरीबी तथा भुखमरी से त्रस्त होता जा रहा था। इस विसंगति को दूर करने का बुद्ध ने अथक प्रयास किया किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण साफल्य न मिल सका। वर्ण-व्यवस्था कुछ दिनों के लिए हल्की भले ही पड़ गई। अश्वघोष के काव्यों में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का स्पष्ट वर्णन मिलता है। 'शारिपुत्र प्रकरण' में ऐसा उल्लेख है कि शारिपुत्र (ब्राह्मण) जब अपने मित्र विदूषक से यह बताता है कि वह गौतम बुद्ध से दीक्षा लेना चाहता है, तब विदूषक कहता है कि ब्राह्मण होकर उस क्षत्रिय का शिष्य बनना अनु-चित है।[21] इससे ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। राजा शुद्धोदन ने पुत्र-जन्म तथा स्वप्न-दर्शन के अवसर पर विद्वान् ब्राह्मणों को स्वर्णिम शृङ्गों वाली, क्षीरा गायें दान में दीं। कई प्रसङ्गों में ब्रह्म-बल को क्षात्र-बल से श्रेष्ठ बताया गया है। 'बुद्धचरित में समिधा, कुश और पुष्पों से युक्त तपस्वी ब्राह्मणों का वर्णन है। 'सौन्दरनन्द' में वेद-वेदाङ्गों में दक्ष तथा षट् कर्मों में प्रवृत्त ब्राह्मणों[22] का वर्णन किया गया है।

क्षत्रियों के बल-वैभव, शासन करने, शत्रुओं को पराजित करने तथा युद्ध करने का प्रायः प्रत्येक सर्ग में सङ्केत मिलता है। बुद्ध के अधिकांश शिष्य क्षत्रिय ही हैं। दीक्षा प्रसङ्ग में अनेक वैश्य तथा शूद्र भी शिष्यत्व ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। स्तवकर्णी नामक सेठ उनका शिष्य बनकर श्रद्धावश एक दिव्य, आनन्द से पूर्ण, चन्दन-युक्त विहार बनाकर बुद्ध को समर्पित करता है।[२३] कौशाम्बी नगरी के धनाढ्य घोषल तथा अन्य महाजनों के शिष्य बनने का वर्णन मिलता है। महाक्रूर, मांसभक्षी कर्कट नामक असुर आटविक, कुमार, हस्तक, जङ्गाली, नागर, क्रूरकर्मा, कालक, कुम्भीर तथा मल्लों को भी बुद्ध ने दीक्षित किया।[२४] ये असुर, आटविक आदि नाम शूद्रों की ही तरफ सङ्केत करते हैं। वन में निवास करने वाली जन-जातियों के लिए ही जङ्गाली, क्रूरकर्मी आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५. आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाज की उन्नति के लिए वर्ण-व्यवस्था थी, उसी प्रकार वैयक्तिक उन्नति हेतु आश्रम-व्यवस्था का विधान किया गया था। ब्रह्मचर्याश्रम में स्वाध्याय, गृहस्थाश्रम में एषणा-चतुष्टय की प्राप्ति, वानप्रस्थ में महायज्ञों का अनुष्ठान तथा संन्यास में निवृत्ति परायण हो अध्यात्म-चिन्तन करना मानव-जीवन का लक्ष्य था। अश्वघोष के काव्यों में चारों आश्रमों के प्रति निर्देश प्राप्त होते हैं। राजकुमार के वन चले जाने पर मंत्री तथा पुरोहित, मगधपति बिम्बिसार गृहस्थाश्रम के भोगों का बहुविध वर्णन करते हैं और सिद्धार्थ को प्रेरित करते हैं। नन्द की दीक्षा के प्रसङ्ग में बुद्ध की उक्ति तथा नन्द-पत्नी के विलाप के अवसर पर एक विदुषी सखी द्वारा नन्द-पत्नी को समझाया जाना वानप्रस्थ आश्रम के विषय में स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।[२५] सन्यास आश्रम के विषय में बुद्ध चरित का सप्तम सर्ग विशेष रूप से द्रष्टव्य है जहाँ सन्यास-आश्रम का सविस्तार वर्णन है। राजा शुद्धोदन के राज्य-वैभव का वर्णन तथा राजकुमार को कामोपभोग के प्रति आसक्त करने के लिए विविध साज-सज्जा तथा काम-कला में प्रवीण स्त्रियों से युक्त अंतःपुर का वर्णन इसके मुख्य उदाहरण हैं। वेदाध्ययन आदि का वर्णन ब्रह्मचर्याश्रम के प्रति सङ्केत है। इस प्रकार आश्रम-चतुष्टय पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है।

६. पुरुषार्थ-चतुष्टय

मानव-जीवन के लिए चार लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें ही पुरुषार्थ-चतुष्टय कहते हैं। ब्राह्मण धर्म में इसका विशेष महत्त्व है। अश्वघोष ने मुख्य रूप से अपने काव्यों में 'मोक्ष' नामक परम पुरुषार्थ का ही वर्णन किया है। उन्होंने स्वयं अपने काव्यों को 'मोक्षार्थगर्भाकृति'[२६] कहा है। मोक्ष के अतिरिक्त अन्य विषयों का वर्णन मात्र काव्य को सरस बनाने के लिए किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अश्वघोष ने त्रिवर्ग (धर्मार्थ काम) को पूर्वपक्ष (गौण) तथा मोक्ष को उत्तर पक्ष (प्रधान) के रूप में प्रस्तुत किया है। राजा शुद्धोदन को त्रिवर्ग का सेवन करते हुए बताया गया है। 'बुद्ध चरित' के

दशम सर्ग में मगधपति राजकुमार को त्रिवर्ग के महत्त्व से इस प्रकार अवगत कराता है—[३७]

"धर्म-अर्थ-कामों का विधिवत् सेवन कीजिए, क्योंकि रागवश त्रिवर्ग का व्यतिक्रम करने वालों का परलोक तथा इस लोक दोनों में पतन होता है।............ धर्मार्थ और काम की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ कहा गया है। अतः युवा के लिए काम, मध्य के लिए धन तथा वृद्ध के लिए धर्म का कथन किया गया है।"

किन्तु राजकुमार त्रिवर्ग-सेवन को नाशवान् तथा अतृप्तिकर मानता है। वह मोक्ष को आवागमन से मुक्ति का साधन मानता है—

"पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्नरुङ्
न जन्म नैवोपरमो न चाधयः।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं
न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥"[३८]

७. पुनर्जन्म तथा कर्मवाद

ब्राह्मण धर्म पुनर्जन्म तथा परलोक-दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा पुण्य-पाप कर्मों को उनका निर्णायक मानता है। अश्वघोष ने भी पुण्य-कर्म से स्वर्ग-प्राप्ति तथा पाप-कर्म से नरक-भोग का समर्थन किया है—

"इहार्थमेवारभते नरोऽधमो
विमध्यमस्तूभयलौकिकीं क्रियां।
क्रियाममुत्रैव फलाय मध्यमो
विशिष्ट धर्मा पुनरप्रवृत्तये ॥"[३९]

'बुद्ध चरित' के चौदहवें सर्ग में नरक, स्वर्ग, तिर्यक्, मनुष्य तथा पितृ लोकों का वर्णन मिलता है। इनमें भ्रमण करने वाले प्राणियों को जो कष्ट भोगने पड़ते हैं, उनका सजीव चित्रण किया गया है। इस सामान्य सिद्धान्त का लगभग बौद्धों ने भी अनुकरण किया है।

८. संस्कार

मानव-जीवन को विशुद्ध, सुसंस्कृत तथा सद्गुण सम्पन्न बनाने हेतु स्मृतियों में संस्कारों का विधान किया गया है। सामान्य रूप से षोडश संस्कार स्वीकार किए गए हैं। इनका पालन करना ब्राह्मण धर्म में अत्यावश्यक माना गया है। अश्वघोष के काव्यों में स्मृतियों के अनुकूल संस्कारों का वर्णन मिलता है। राजा शुद्धोदन ने पुत्र-जन्म के अनन्तर स्वकुलानुसार पुत्र का जात-कर्म संस्कार कराया।[४०] सन्तान पैदा होने पर उसके सर्वविध कल्याण हेतु जो संस्कार किया जाता है, उसे जात-कर्म संस्कार कहते हैं। स्मृतिकारों ने प्रत्येक संस्कार के लिये वंश-पर-

म्परा के अनुसार आचरण करने की स्वीकृति दी है। इसके पश्चात् नामकरण करना चाहिए। नामकरण का गुणों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। राजा शुद्धोदन के राज्य में पुत्र-जन्म के पश्चात् सभी सम्पत्तियों की विशेष वृद्धि हुई, इसीलिए राजा ने उस पुत्र का 'सर्वार्थसिद्ध' ऐसा नाम रखा।[३१] दूसरे पुत्र का 'नन्द' ऐसा नाम रखा गया, जो सर्वदा विषयानुरक्त रहता था। एक ही पिता के दो पुत्र जो समान वातावरण में पैदा हुए थे तथा समान रूप से संस्कृत किए गए, मात्र नामकरण के प्रभाव से इस स्वभाव-वैषम्य के पात्र बने। गुरु के समीप जाकर नियम पूर्वक विद्याध्ययन करने के पूर्व उपनयन संस्कार किया जाता है। कौमार्य बीत जाने पर इस संस्कार के द्वारा पवित्र यज्ञ-सूत्र धारण कराया जाता है; जिससे वीर्य की रक्षा तथा शास्त्र ग्रहण करने की बुद्धि विकसित होती है। राजकुमारद्वय के समयानुकूल उपनयनादि संस्कार किये जाने तथा अल्पकाल में ही विद्या ग्रहण करने का वर्णन किया गया है।[३२] 'बुद्ध चरित' के सत्ताइसवें सर्ग में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है। मल्लों ने दिव्य चन्दन, अगरु तथा वल्कल आदि से रची गई चिता पर गन्धादि-सुवासित मुनि का शरीर रखा। तत्पश्चात् दीपक जलाकर तीन बार चिता में आग लगाने का उल्लेख है।[३३] अन्त्येष्टि के समय दाह-पद्धति का समर्थन करना वेद तथा स्मृतियों के अनुकूल है।

९. अभिन्न दाम्पत्य

ब्राह्मण धर्म में अभिन्न दाम्पत्य का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में दाम्पत्य-जीवन का नियमतः पालन करने वालों को दैवी कोटि में रखा गया है। जन्मान्तर में भी स्त्री-पुरुष के परस्पर मिलन को स्वीकार किया गया है।[३४] अश्वघोष ने नन्द तथा सुन्दरी के उत्कट प्रेम को प्रदर्शित करने के लिए चक्रवाक-युगल को उपमान बनाया है। विलाप करती हुई नन्द-भार्या को उसकी सखी बहुविध समझाती हुई उन दोनों के अभिन्न दाम्पत्य का प्रकाशन करती है। 'बुद्ध-चरित' में सिद्धार्थ के वन चले जाने पर यशोधरा के दाम्पत्य-विषयक मार्मिक भावोद्गारों का प्रकाशन अश्वघोष ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है।[३५]

"यशोधरा चक्रवाक से वियुक्त चक्रवाकी के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी और विकल होती हुई गद्गद् अवरुद्ध वाणी से मन्द स्वर में बारम्बार विलाप करने लगी। यदि वे मुझ अनाथा सहधर्मचारिणी को छोड़कर धर्म करना चाहते हैं तो उन्हें कहाँ से धर्म होगा?"

वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने तथा यज्ञानुष्ठान हेतु वेद-विधान से संशुद्ध तथा दीक्षित दम्पतियों का वर्णन है। अंत में यशोधरा की उक्ति विशेष रूप से द्रष्टव्य है–[३६] "मेरा यही एक मनोरथ है कि वह प्रियतम मुझे इस लोक अथवा परलोक में किसी तरह न भूलें।" इससे बढ़-कर अभिन्न दाम्पत्य का उदाहरण और क्या हो सकता है? स्वामी द्वारा परित्यक्त होकर भी ऐसी भावना रखना भारतीय नारी की गरिमा का द्योतक है।

१०. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

ब्राह्मण-परम्परा में गुरु-शिष्य का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। 'सौन्दरनन्द' में गुरु

के लिए 'उपाध्याय'[३७] शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ होता है—जिससे विधिपूर्वक अध्ययन किया जाय। वहीं पर इस सिद्धान्त का भी उल्लेख है कि क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न शिष्य अपने गुरु के गोत्र को ग्रहण कर लेते थे।[३८] शिष्य गुरु को मस्तक झुकाकर अथवा जमीन पर लेटकर साष्टाङ्ग प्रणाम करता था। 'बुद्ध चरित' में कहा गया है कि गुरु का नाम लेने पर सारा धर्म नष्ट हो जाता है। 'सौन्दरनन्द' के अठारहवें सर्ग में वर्णन मिलता है कि शिष्य अपने अध्ययन की सफलतापूर्ण समाप्ति पर गुरु को सम्मान स्वरूप दक्षिणा समर्पित करता था। शिष्य की उत्तम सफलता को ही गुरु की प्रधान दक्षिणा माना गया है। 'बुद्ध चरित' में ऐसा वर्णन है कि भली-भाँति परीक्षित शिष्य को ही स्वीकार करना चाहिए,[३९] जिससे कि परिश्रम व्यर्थ न हो।

११. ऋणत्रय

ब्राह्मण धर्म में तीन ऋण माने गए हैं—ऋषिऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। इनसे मुक्ति का साधन क्रमशः वेदाध्ययन, यज्ञ और पूजा तथा पुत्रोत्पत्ति को बताया गया है। 'बुद्ध चरित' में ऋण-त्रय का वर्णन यथावत–इसी रूप में किया गया है तथा इनसे मुक्ति मिलना ही मोक्ष माना गया है।[४०]

"सन्तान द्वारा पितरों के, वेद द्वारा ऋषियों के और यज्ञ द्वारा देवों के ऋण से मनुष्य मुक्त होता है। वह तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है और जो उनसे मुक्त होता है, उसी का मोक्ष है।"

१२. अवतारवाद

ब्राह्मण धर्म में अवतारवाद की मान्यता है। धर्म के अभ्युदय तथा पाप के नाश के लिए ईश्वर किसी न किसी रूप में अवतरित होता है, ऐसी मान्यता है। प्रायः हमारे यहाँ चौबीस अवतार माने गये हैं किन्तु उनमें भी दस अवतारों का विशेष महत्त्व है! इन दशावतारों में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार माना गया है। किन्तु अश्वघोष ने कहीं भी बुद्ध के अवतार की चर्चा नहीं की है। यदि उन्हें अवतारी व्यक्तित्व के रूप में चित्रित करना अपेक्षित होता तो उनके जन्म-ग्रहण के पूर्व देवताओं द्वारा किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि हेतु विष्णु के पास जाने तथा विष्णु द्वारा पृथ्वी पर राजा शुद्धोदन के यहाँ पुत्र-रूप में जन्म-ग्रहण करने के संकल्प की कल्पना का भी वर्णन अवश्य होता, जैसा कि राम, कृष्ण तथा परवर्ती साहित्य में बुद्ध के विषय में प्राप्त होता है। अश्वघोष ने बुद्ध को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु भक्ति या श्रद्धातिशयता के कारण उनके (बुद्ध के) जीवन-चरित का अतिरञ्जित वर्णन किया है। इसके दो कारण हो सकते हैं--

१— अश्वघोष के वर्णन का माध्यम काव्य है। काव्य पर पूर्ववर्ती साहित्य तथा साहित्यकारों के वर्णन-वैशिष्ट्य का प्रभाव अवश्य पड़ता है। अश्वघोष ने भी अपने पूर्ववर्ती काव्य

वाल्मीकि रामायण से चरित्र-चित्रण की पद्धति ग्रहण की थी। रामायण के नायक राम का चरित्र अश्वघोष के नायक बुद्ध के चरित्र का आधार बना।

२— अश्वघोष एक भक्त कवि थे। भक्त अपने नायक के प्रति श्रद्धालु होकर उसके अतिरञ्जित चरित्र का गुणगान करता है। साथ ही उन्हें बौद्ध धर्म का प्रचार अभीष्ट था बौद्ध धर्म का जनता में प्रचार तभी सम्भव था, कि जब उसका प्रवर्तक कोई लोकोत्तर पुरुष हो। राम तथा कृष्ण को लोकोत्तर पुरुष मानकर जनता अन्धाधुन्ध उनके सिद्धान्तों को स्वीकार कर रही थी। किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को लोकोत्तर बना पाना कवि की ही सामर्थ्य है।[४१] इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि ने बुद्ध का लोकोत्तर वर्णन प्रस्तुत किया।

मात्र दो श्लोकों में बुद्ध की देवता से उपमा दी गई है। 'बुद् चरित' में प्रयुक्त 'पुरुषोत्तम' तथा 'चक्रधर' शब्द को कुछ विद्वान लक्षणया विष्णु का पर्यायवाची मानकर अवतारवाद[४२] का समर्थन करते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में ऐसा दुस्साहस करना समीचीन नहीं है। वास्तव में बुद्ध का मानव रूप ही अश्वघोष के वर्णन का अभीष्ट है।

इन वर्णनों के अतिरिक्त अश्वघोष के काव्यों में सदाचार, धार्मिक कृत्यों, व्रत, देव-दर्शन, देव-पूजन तथा दान[४३] आदि पर विशेष बल दिया गया है। समस्त काव्य पौराणिक आख्यानों से भरे पड़े हैं। पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि पुराणों का विशेष ज्ञाता था। इस प्रकार सर्वत्र ब्राह्मण धर्म की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है।

इन सारे वर्णनों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि अश्वघोष का अन्तःकरण पूर्ण रूपेण ब्राह्मण धर्म से प्रभावित था। बौद्ध धर्म में दीक्षित होते हुए भी उनके मन में ब्राह्मण धर्म के प्रति विशेष श्रद्धा थी। यहीं पर यह भी ध्यातव्य है कि बौद्ध धर्म कोई नवीन मौलिक धर्म नहीं था, बल्कि प्राचीन ब्राह्मण धर्म के अतिवादों का परिष्कृत रूप था। इस धर्म का मूल उद्देश्य समाज में व्याप्त दोषों का परिमार्जन था। इसने प्राचीन परम्परागत धर्म के मौलिक सिद्धान्तों की नवीन तथा परिमार्जित व्याख्या प्रस्तुत की। तथापि यज्ञ, वेद-प्रामाण्य तथा जातिवाद का बौद्ध धर्म ने खुलकर विरोध किया, लेकिन अश्वघोष के काव्यों में इन सिद्धान्तों का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इस प्रकार अश्वघोष के काव्यों पर ब्राह्मण धर्म का प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है।

सन्दर्भ

१. अश्वघोष — **सौन्दरनन्द** (सम्पादक—सूर्य नारायण चौधरी), संस्कृत भवन, कठोतिया (पूर्णिया), १९४८, पुष्पिका,

२. मिश्र, सुधाकर -- **अश्वघोष के काव्यों का दार्शनिक अध्ययन,** अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद, पृ० १२५.

३. कृष्णमाचारी एम० — **हिस्ट्री ऑफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर,** मोतीलाल बनारसीदास, १९७४, पृ० १२५.

४. जायसवाल, काशी प्रसाद— **अंधकारयुगीन भारत** (अनुवादक श्री रामचन्द्र वर्मा), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, पृ० २४४.

५. अश्वघोष — तदेव, १८/६३.

६. मनु — **मनुस्मृति,** निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, २/१६८.

७. अश्वघोष — तदेव, २/४४.

— **बुद्ध चरितम्,** (अनुवादक–महन्त श्री रामचन्द्र दास शास्त्री), चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९७९, २/३७.

८. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्,** ११/७१.

९. अश्वघोष — **सौन्दरनन्द,** १/२.

१०. तदेव — २/२७.

११. **बुद्धचरितम्** — भूमिका (सं० जान्सटन), मोतीलाल बनारसी दास, १९७८, पृ० ३३.

१२. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्,** १/५८, ८/७३.

— **सौन्दरनन्द,** ४/४६.

१३. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्,** १३/१६.

१४. तदेव — **सौन्दरनन्द,** ११/४९.

१५. तदेव — **बुद्धचरितम्,** ७/१४-१८.

१६. तदेव — ५/१६-१९, ७/५१, ११/१७.

१७. मनु — तदेव, ३/७०.

१८. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्,** २/४९, ११/६४-६७.

१९. तदेव — १/६४, ८/८०.

२०. तदेव — ८/६१-६३.

२१. दत्त, समीर कुमार — **अश्वघोष ऐज ए पोएट एण्ड ए ड्रेमेटिस्ट,** दि यूनिवर्सिटी ऑफ बर्दवान, १९७९, पृ० ३४.

२२. अश्वघोष — **सौन्दरनन्द**, तदेव, १/४४.

२३. तदेव — **बुद्धचरितम्**, २१/२४-२५.

२४. तदेव — २१/१७, २०, २३, २५/४९.

२५. तदेव — **सौन्दरनन्द**, ५/३८, ६/३९-४०.

२६. तदेव — १८/६३-६४.

२७. तदेव — **बुद्धचरितम्**, १०/२८-३०, ३४.

२८. तदेव — ११/५९.

२९. तदेव — **सौन्दरनन्द**, १८/५५.

३०. तदेव — **बुद्धचरितम्**, १/८२.

३१. तदेव — २/१७.

३२. तदेव — २/२४.

३३. तदेव — २७/७०-७५.

३४. माघ — **शिशुपाल वधम्**, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९६१, १/७२.

३५. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्**, ८/६०-६७,

३६. तदेव — ८/६६.

३७. अश्वघोष — **सौन्दरनन्द**, १/२२.

३८. तदेव — १/२२-२३.

३९. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्**, १२/१०.

४०. तदेव — ९/३५.

४१. विल्हण — **विक्रमाङ्कदेव चरितम्**, भारतीय प्रकाशन, कानपुर, — १९७७, १/२७.

४२. अश्वघोष — **बुद्धचरितम्**, २/१६, ७/३,

४३. तदेव — १८/६३-६४, ७५-७६.

सुनीति पांडे*

नैगमेष-मृण्मूर्तियां

पाटलिपुत्र[1], वैशाली[2], राजघाट[3], कौशाम्बी[4] और अहिच्छत्र[5] आदि के पुरातात्विक उत्खननों द्वारा शिशु-जन्म से सम्बन्धित बहुसंख्यक नैगमेष-मृण्मूर्तियां प्रकाश में आयी हैं। इन अजमुखी अथवा बकरी के मुखवाली मूर्तियों के धड़ मानवीय हैं। इन्हें प्रथम शती ई० से सातवीं शती ई० के मध्य निर्मित माना गया है। उल्लेखनीय है कि इतनी लम्बी समयावधि में निर्मित इन प्रतिमाओं में पर्याप्त एकरूपता है।

उपर्युक्त पुरास्थलों से प्राप्त नैगमेष-मृण्मूर्तियों को मुख्यतः निम्न **छः प्रकारों** में बांटा जा सकता है—

१— दोनों कन्धों पर एक-एक शिशु सहित अजमुख पुरुष नैगमेष।

२— शिशु विहीन अजमुख पुरुष नैगमेष।

३— अजमुखी स्त्री नैगमेष (शिशु विहीन)।

४— मानवमुखी स्त्री नैगमेष प्रतिमा।

५— दम्पत्ति-आकृतियाँ, जिसमें स्त्री-पुरुष नैगमेष एक साथ प्रदर्शित हैं।

६— शिशु सहित दम्पति आकृतियाँ।

प्रथम प्रकार की मृण्मूर्ति अहिच्छत्र से मिली है। यह मूर्ति मथुरा से प्राप्त पाषाण निर्मित कुषाणकालीन नैगमेष प्रतिमा के समान है। सर्व लोकप्रिय द्वितीय, और तृतीय प्रकार की प्रतिमायें सभी जगह अधिक संख्या में मिली हैं। इनके कान लम्बे नाक आगे को निकली और मुख रेखीय हैं। केश ऊपर को उठे हुए और छिद्रयुक्त हैं। अधिकांश मूर्तियों में पैरों का प्रदर्शन नहीं दिखता है। स्त्री-पुरुष का भेद स्तनों से किया जा सकता है। स्त्री-नैगमेष की मृण्मूर्तियां

*प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलती हैं। प्रथम शती ई० से तृतीय शती ई० तक की नैगमेष-मूर्तियां सींगयुक्त और बाद की मूर्तियां सींगहीन हैं।

चतुर्थ प्रकार की मृण्मूर्तियां लगभग सभी जगह अच्छी संख्या में मिली है। इनके कान लम्बे और नीचे की ओर लटकते हुए दर्शाये गये हैं। प्रायः इनकी ऊपर उठी केश-शिखा अथवा कान छिद्रयुक्त हैं।

दम्पति और शिशु सहित दम्पत्ति प्रकार की मृण्मूर्तियां केवल वैशाली से प्रकाश में आयी हैं। दम्पति प्रकार में सिरोभाग शिखाहीन हैं। शिशु सहित दम्पति प्रकार में दम्पति को मुक्त शिखायुक्त और शिशु को शिखाहीन दर्शाया गया है।

कुम्हरहार[६] से प्राप्त अलंकृत केश सज्जा वाली एक नैगमेष-मृण्मूर्ति को पीठिकायुक्त निर्मित किया गया है। कौशाम्बी से प्राप्त एक नैगमेष-मूर्ति के सिरोभाग पर दो धंसे हुए घुण्डीनुमा सींग दर्शनीय हैं।

बनावट के अनुसार नैगमेष-प्रतिमायें दो प्रमुख वर्गों में रखी जा सकती हैं—

१— हस्त निर्मित मूर्तियां

२— सांचे से ढली मूर्तियां

पाटलिपुत्र की सभी मृण्मूर्तियां हाथ से बनी हैं। अन्य स्थलों पर हस्त-निर्मित और सांचे से ढली, दोनों प्रकार की, मृण्मूर्तियां पायी गयी हैं।

नैगमेष प्रतिमाओं की उपर्युक्त वर्गीकृत प्राप्तियाँ एक से अधिक नैगमेष-परम्पराओं के अस्तित्व की पर्याप्त सम्भावना की ओर इंगित करती हैं। पाटलिपुत्र में हस्त-निर्मित स्त्री-नैगमेष मृण्मूर्तियों का ही पाया जाना, दम्पति प्रकार का वैशाली तक सीमित रहना और केवल अहिछत्र में प्रथम प्रकार की मृण्मूर्तियों की प्राप्ति विचारणीय है।

हस्त-निर्मित अजमुख पुरुष नैगमेष

१. कौशाम्बी[७] की एक पुरुष नैगमेष-मृण्मूर्ति के सिर के पीछे एक धंसी हुई शिखा है।

२. राजघट्ट[८] की एक मृण्मूर्ति को एक चिपकाये हुए कण्ठहार से सज्जित दर्शाया गया है। कण्ठहार चुटकियों से बने लघुवृत्तों से अलंकृत है। इसका वक्ष भी चुटकी से बने लघुवृत्तों से प्रदर्शित है।

हस्त-निर्मित अजमुखी स्त्री नैगमेष

१. अलग से लगाया गया अज-मुख, नीचे की ओर झुके 'कपनुमा' दबे हाथ[९] और पीछे की ओर मुड़े केश इस प्रकार की मृण्मूर्तियों की प्रमुख विशेषतायें हैं। कुछ उदाहरणों[१०] में हाथ चम्मच जैसे दबावयुक्त हैं।

२. सिर के पीछे एक छिद्रयुक्त फैलाव (केश-सज्जा) होता है ।

३. गुप्तकाल के कुछ उदाहरणों में घुमावदार और मुक्त केश-शिखायें अथवा शिखा-हीन सिर दिखते हैं ।[12]

ढली हुई अजमुखी स्त्री-पुरुष नैगमेष-आकृतियां

१. बाहर को निकली छिद्रयुक्त सींगे पुरुष आकृतियों[13] और तुरहीनुमा[14] छिद्रयुक्त सींगे स्त्री आकृतियों की विशेषतायें हैं ।

२. प्रायः सिर के पीछे अर्ध चन्द्राकार छिद्रयुक्त शीर्ष-गांठ पुरुष आकृतियों में पायी जाती हैं ।[15] इन्हें पांच समान चिन्हों से युक्त कण्ठमाल और एक उकेरित कण्ठहार से अलंकृत दर्शाया गया है ।[16]

३. कुछ उदाहरणों में सिर के पीछे पूर्णतः गोल केश-सज्जा प्रदर्शित है ।[17] स्त्री आकृतियों में शिखा पर क्षैतिज उकेरण द्रष्टव्य हैं ।

सांचे में ढली मानव-मुखी अजकर्णयुक्त नैगमेष मूर्तियां

१. तुरही जैसी छिद्रयुक्त शिखा वाली मूर्तियां ।

२. छिद्रयुक्त केश-सज्जा वाली मूर्तियां

३. कुछ मृण्मूर्तियों में केश-शिखा मध्य में एक गहरे कटाव से युक्त है । शिखा पर दांतेदार गढ़नों की बहुत सी पंक्तियाँ दिखती हैं ।

शिशु सहित दम्पत्ति मृण्मूर्तियां

१. दम्पति के वक्ष पर क्षैतिजाकार छोट-छोटी उकेरित रेखायें तथा शिशु के हाथों पर समानान्तर और वक्र उकेरण द्रष्टव्य है ।[18]

२. कुछ उदाहरणों में इनकी शिखा छिद्रयुक्त और उकेरण से सज्जित होती है ।

नैगमेष नाम का उद्भव नैगम से हुआ है । इसका अर्थ व्यापारी अथवा सौदागर होता है ।[19] स्कन्द, विशाख और नैगमेष नौ बाल-ग्रहों में से तीन पुरुष ग्रह हैं, शेष छः पूतना और रेवती आदि स्त्री ग्रह हैं । नवां नैगमेष पितृग्रह कहलाता है क्योंकि यह बच्चों के रक्षक और अभिभावक का कार्य करता है, जोकि नवग्रहों में उसकी विशिष्ट स्थिति का द्योतक है ।[20] यह देवता अजमुखी और नवजात शिशुओं के रक्षक के रूप में उल्लिखित हुआ है ।[21]

नैगमेष की व्युत्पत्ति के बारे में ब्राह्मण और जैन साहित्य में विभिन्न कथायें पायी जाती हैं । स्कन्द-कार्तिकेय के अनुयायी का नाम नैगमेष था । जिस व्यक्ति पर उसका प्रभाव पड़ता है उसमें झाग फेंकने, उल्टी करने और अन्ट-शन्ट बोलने के लक्षण दिखने लगते हैं ।[22] महाभारत के आरण्यकपर्व[23] के अनुसार अजमुख धारण करके (नैगमेय बनकर) अग्नि ने अपने पुत्र स्कन्द

के साथ क्रीड़ा की थी। ऋग्वेद के खिल्यसूत्र[२४] और महाभारत[२५] के आदिपर्व में एक विशिष्ट देवता के लिए नैगमेष शब्द का प्रयोग किया गया है। नैगमेष का अजमुख ब्राह्मण परम्परा के अजमुख दक्ष-प्रजापति की याद दिलाता है। उसका देव-सेनापति का व्यक्तित्व कार्तिकेय के समान है, जिसका एक नाम नैगमेष[२६] था।

कल्पसूत्र[२७], नेमिनाथचरित[२८] और अन्तगदसाओ[२९] में नैगमेष विभिन्न नामों से वर्णित है। जैन साहित्य[३०] में नैगमेष-व्युत्पत्ति निम्नानुसार उल्लिखित है—

हरिणैगमेंसिति-हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी-आदेश प्रतिच्छक इति।

कल्पसूत्र[३१] के अनुसार इन्द्र का सन्देशवाहक हरिनैगमेषी उनकी सेना का सेनापति भी था।

कल्पसूत्र में नैगमेष का उल्लेख निम्नानुसार किया गया है—

जब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ कि महावीर ने देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ का रूप ले लिया है तो उन्होंने गर्भस्थ अर्हत को प्रणाम किया। तब उन्होंने सोचा कि अर्हत का जन्म निम्नवर्णीय ब्राह्मण-कुल में नहीं वरन् उच्च राजकीय कुल में होना चाहिये। भ्रूण का स्थानान्तरण इन्द्र का कर्त्तव्य था। इन्द्र ने अपनी देव-सेना के सेनापति हरिनैगमेषी को देवनन्दा के गर्भ से महावीर को निकालने और उनकी समस्त अपवित्रता को स्वच्छ करने के निर्देश दिये। इसके उपरान्त महावीर का भ्रूण त्रिशाला के गर्भ में स्थापित कर दिया गया। इस कार्य के समय स्त्रियां और परिचर गहरी जादुई नींद में सोये रहे। अन्ततः देवता ने इन्द्र-स्थान पर पहुंच कर आदेश-अनुपालन की सूचना दी।

नेमिनाथ चरित् की एक रोचक कथा के अनुसार कृष्ण द्वारा सत्यभामा के लिये प्रद्युम्न जैसे पुत्र की प्राप्ति हेतु एक देवता की सहायता लेने की कथा को नैगमेष की कथा से सम्बद्ध किया गया है। देवता ने कृष्ण की इच्छा पूरी की जिसके उपरान्त वह शिशु-जन्म का प्रमुख देवता कहलाया।[३२]

जैसा कि प्रो० कीथ[३३] की सम्भावना है, इस देवता की कल्पना पूर्णतः वास्तविक नहीं प्रतीत होती है, दक्ष प्रजापति से इसकी तुलना करने पर तीन प्रमुख तत्व देवता से सम्बन्धित दिखते हैं। मृग मुख, अजमुख और प्रजनन शक्ति दक्ष प्रजापति की कथा से लिये गये हैं। प्रजापति की तरह नैगमेष का मुख्य कार्य विकास और प्रजनन था।

अजमुख नैगमेष की स्त्री सहभागी नैगमेषी की पहिचान स्कन्द की पत्नी षष्ठी देवी से करना युक्तिसंगत होगा जो कि शिशु जन्म की देवी के रूप में सर्वत्र पूजी जाती है।

सन्दर्भ

१. सिन्हा, बी० पी० एण्ड नरायन एल० ए० — **पाटलिपुत्र एक्सकेवेशन, १९५५-५६** दि डाइरेक्टरेट ऑफ आर्कलॉजी एण्ड म्यूजियम्स, बिहार, पटना, पृ० ४३,

२. सिन्हा, बी० पी० एण्ड रॉय, आर० — **वैशाली एक्सकेवेशन्स १९५८-६२,** दि डाइरेक्टरेट ऑफ आर्कलॉजी एण्ड म्यूजियम्स, विहार, पटना, पृ० १६२-६३.

३. नरायन ए० के० एण्ड अग्रवाल पी० के० — **एक्सकेवेशन्स ऐट राजघाट (१९५७-५८, १९६०-६५),** डिपार्टमेन्ट ऑफ ऐन्शेन्ट इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर एण्ड आर्कलॉजी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, पृ० ८५-९१.

४. शर्मा, जी० आर० — **एक्सकेवेशन्स ऐट कौशाम्बी–१९५७-५९,** दि डिपार्टमेन्ट ऑफ ऐन्शेन्ट इण्डियन हिस्ट्री कल्चर एण्ड आर्कलॉजी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय.

५. शाह, यू० पी० — हरिनेगमेषिन, **जर्नल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट,** वॉ XIX, १९५२-५३, १५ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता.

६. अल्तेकर, ए० एस० एण्ड मिश्र वी० के० — **रिपोर्ट ऑन कुम्रहार एक्सकेवेशन्स** (१९५१-१९५५).

७. कौशाम्बी सं० २९३८.

८. राजघाट सं० ७००

९. कुम्रहार नं० १०६

१०. कुम्रहार नं० ७०८

११. कुम्रहार नं० ११३

१२. वैशाली नं० १५६८

१३. राजघाट नं० ३२१

१४. राजघाट नं० ७७०

१५. राजघाट नं० ४०५

१६. राजघाट नं० ३६१

१७. राजघाट नं० ८११

१८. वैशाली नं० १८४४

१९. अग्रवाल, वी० एस० — **ऐन्शेन्ट इण्डियन फोक कल्ट्स,** पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी पृ० ७८.

२०. सुश्रुत कौमार — **भृत्य तन्त्र** XXVIII, ३.

२१. तदेव

२२. **वाचस्पत्यम**, वॉ ५, पृ० ४१४.

२३. **महाभारत**, आरण्कपर्वण, III, २१३, २१.

२४. **ऋग्वेद**, खिल्ल ३०.१

२५. **महाभारत**, ४५०/३७.

२६. भट्टाचार्य, बीं० सी० — **जन आइकनोग्राफी**, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, पृ० १३३.

२७. **कल्पसूत्र** (सन्देह विषऔषधि टीका, पत्र ३१).

२८. हरिभद्र — **नेमिनहचारिय**

२९. बर्नेट, एल० डी० — **अन्तगदसाओ एण्ड अनुलववैयादसाओ**

३०. **कल्पसूत्र** (सन्देह विष औषधि टीका पत्र ३१).

३१. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि — **कल्पसूत्र**, पृ० ६७,

३२. **जर्नल ऑफ यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी**, वॉ० २०, १९४७, पृ० ६८-६९.

३३. कीथ, ए० बी० — **इण्डियन माइथोलॉजी** (माइथोलॉजी ऑफ जैन).

सुषमा मणि*

प्राचीन लिच्छवि-शासन और आधुनिक नेपाल में उसके तत्व

प्राचीन काल में नेपाल नाम से काठमांडू घाटी का ही बोध होता था। गुप्त शासन के ढीले होने पर नेपाल में लिच्छवि-वंश के शासकों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया और नवीं शती के मध्य तक नेपाल पर शासन किया। लिच्छवियों के मूल के विषय में मतभेद है, किन्तु उनका किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध बुद्ध-काल के वैशाली के लिच्छवियों से अवश्य रहा होगा। लिच्छवियों के पौने दो सौ के लगभग अभिलेख काठमाँडू घाटी से प्राप्त हुए हैं।[1] जिनके आधार पर उनके राजनैतिक इतिहास, प्रशासन तथा तत्कालीन समाज एवं अर्थव्यवस्था पर समुचित प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त नेपाल की वंशावलियों तथा विदेशी यात्रा-वृत्तान्तों से भी कुछ जानकारी उपलब्ध होती है।

कुछ कमजोर लिच्छवि शासकों यथा मनुदेव, वामनदेव, रामदेव, शिवदेव तथा ध्रुवदेव एवं भीमार्जुन देव आदि के समय में भोगुप्त, अंशुवर्मा तथा विष्णु गुप्त जैसे सामन्तों ने, जो अधिकतर गुप्त नामधारी थे और सम्भव है इन्होने लिच्छवि राजसत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था। लिच्छवि नरेश नरेन्द्रदेव ने सामन्तों के इस परिवार का प्रभुत्व सदा के लिए समाप्त करके भीमार्जुनदेव के शासन का अन्त करते हुए नेपाल पर अपनी सार्वभौम सत्ता सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थापित की। इसी की एक पुनारावृत्ति हम बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में पुनः पाते हैं। नेपाल के राणा, जो शाह वंश के शासकों के प्रधानमंत्री थे, पिछली शाताब्दी में लगभग पूर्ण स्वतंत्र रूप से नेपाल पर शासन करने लगे थे और शासन के प्रत्येक क्षेत्र में अपना अधिकार रखते थे, किन्तु वर्तमान शताब्दी के मध्य में

*प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी।

उनका अधिकार वैसे ही छिन गया जैसे कि लिच्छवि काल में गुप्त नामान्त सामन्तों का अधिकार नरेन्द्रदेव ने छीन लिया था।

लिच्छवियों के शासन कार्यालय को अभिलेखों में 'अन्तरासन' अथवा 'परमासन' कहा गया है। अभिलेखों में ही 'पूर्वाधिकरण' और 'पशिचमाधिकरण' शब्द भी मिलते हैं जो केन्द्रीय कार्यालय के दो हिस्से थे और जिसकी स्थिति मेरे विचार से सम्भवतः अन्तरासन अथवा परमासन से पूर्व और पश्चिम भाग में थी। कुछ विद्वानों ने लिच्छवि शासन-तंत्र में द्वैराज्य की कल्पना करते हुए इन दोनों अधिकरणों में से एक को लिच्छवि राजा का और दूसरे को उसके सामन्त का माना है, किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है। दिल्ली के वर्तमान ईस्टर्न कोर्ट और वेस्टर्न कोर्ट अथवा नार्थ ब्लाक और साउथ ब्लॉक जैसे दिशा सूचक से भी एक ही कार्यालय के दो हिस्से रहे होंगे जिनके कार्य अलग-अलग थे।

आधुनिक नेपाल में प्रचलित पंचायत राज अथवा पंचायत व्यवस्था के बीज लिच्छविकाल में ही बोए जा चुके थे और स्थानीय-शासन को एक विशेष सीमा तक अधिकार दिए गये थे जिसका संचालन पाञ्चालियां करती थीं। अधिकारों का एक सीमा तक विकेन्द्रीकरण करते हुए स्वायत्त शासन-पद्धति का प्रश्रय देने का कार्य हुआ और इसके अन्तर्गत छोटी-छोटी इकाईयों जैसे ग्राम में पंचायत जैसी व्यवस्था बनाते हुए पाञ्चाली जैसी संस्था का आविर्भाव हुआ। पाञ्चालियों को सीमा-विशेष के अन्तर्गत काफी अधिकार प्राप्त थे जिनकी समय-समय पर विभिन्न अभिलेखों में चर्चा हुई। पाञ्चाली में सम्भवतः पांच सम्मानित व्यक्ति उपस्थित होते थे किन्तु उनका चुनाव अथवा उनकी नियुक्ति किस प्रकार और किस आधार पर होती थी, इसके विषय में विशेष ज्ञान नहीं है। किन्तु नरेन्द्रदेव के देडपाटन कसाईटोल अभिलेख[२] के अनुसार धनवज्रवज्राचार्य ने यह सिद्ध किया है कि पाञ्चाली के सदस्य पाचालिक कहलाते थे तथा उनकी नियुक्ति राजा करता था। कुछ पाञ्चलियों के प्रधान ब्राह्मण थे जिसका अभिलेखिक उल्लेख प्राप्त होता है।[३] अभिलेखों में मुझे लगभग १८ पाञ्चालियों के नाम मिले हैं।[४]

अभिलेखों में भूमि, पिण्डक, मानिका तथा पिण्डक-मानिका जैसे शब्द अनेक स्थानों पर आते हैं। इनमें से कुछ भूमि की पैमाइश से सम्बन्धित हैं। 'भूमि' भूमि का एक निश्चित खण्ड था जिसकी पैमाइश तय थी और उसी पैमाइश के आधार पर उतनी जमीन के टुकड़ों को अलग-अलग मानते हुए उन्हें १, २ अथवा १०० भूमि जैसे नामों से अभिलेखों में वर्णित किया गया है। अभिलेखों से अनाज की तोल के आधार पर भूमि का निर्धारण करने का प्रमाण मिलता है और विभिन्न क्षेत्रों में भूमि की पैदावार के अनुसार उसका निर्धारण किया गया है। नेवारी भाषा में आज भी उसी भूमि के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द "बुं" है। हितनारायण झा[५] तथा डी० आर० रेग्मी[६] के अनुसार 'बु' लगभग २ एकड़ के बराबर होता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि लिच्छविकालीन एक 'भूमि' लगभग २ एकड़ के बराबर का भूखण्ड होता था।

मानिका अनाज की एक निश्चित पैमाइश थी और आज भी नेपाल तथा उत्तर प्रदेश के बस्ती-गोरखपुर जिलों में अनाज की पैमाइश के लिए यह शब्द 'मानी' के रूप में प्रचलित है। बस्ती में १६ सेई का एक मानी होता है। यह मानी निश्चित ही प्राचीन मानिका है। नेपाल में इस प्रकार का शब्द माना प्रचलित है। पिण्डक अथवा मानिका-पिण्डक भी मुख्य रूप से तौल से ही सम्बन्धित थे और पिण्डक सम्भवतः बड़ी इकाई था और पिण्डक-मानिका उससे छोटी। भूमि के प्रदेश और उपज के अनुसार हिस्से दान आदि कार्यों में निर्धारित किए जाते थे जो आज इन प्रदेशों में 'कुत' कहे जाते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में नेपाल में कुछ न कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी परम्परा प्राचीन काल से आज तक वहां चली आ रही है।

धर्म-सहिष्णु होते हुए भी लिच्छवि शासक शैव थे और आज की तरह शैव-पंथ नेपाल में प्रचलित था और समाज में धर्मशास्त्रों के पालन और कट्टरता को काफी महत्व दिया जाता था। अभिलेख में 'भट्टाधिकरण' नामक कार्यालय के उल्लेख मिलते हैं। जिन्हें विद्वान प्रायः जासूसी के कार्य से सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु विभिन्न अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर, जहाँ भट्टाधिकरण के कुछ कार्य उल्लिखित हैं, जासूसी से उसका कोई सम्बन्ध समझ में नहीं आता। वैसे भी अभिलेखों में प्रयुक्त संस्कृत शब्द भट्ट है न कि भट (जासूस)। वर्ण-व्यवस्था को दृढ़ रखने के लिए और वर्ण-संकर को रोकने के लिए तथा मल्लपोन अथवा मल्लकर के निर्धारण और माफी के लिए यह कार्यरत था। लहसुन और प्याज जैसी वस्तुओं, जिन्हें कट्टर हिन्दू समाज में आज भी हेय दृष्टि से देखा जाता है, सम्भवतः उसकी विदेशी (शंकदेशीय)[7] उत्पत्ति के कारण, पर लिच्छवियों ने सम्भवतः इसी लिए कर लगाया था जिससे धार्मिक समाज की कट्टर परम्पराएं नष्ट न हों।

एक ऐसे प्रदेश में जहां विभिन्न जाति, समूह तथा नस्ल के लोग रहते थे, वहाँ वर्ण-संकर को रोकने तथा धार्मिक परम्पराओं के नष्ट होने से रोके जाने के लिच्छवियों के प्रयत्न स्तुत्य हैं। अपने आपको 'भगवत्यशुपतिभट्टा-रकपादानुध्यति' मानते हुए लिच्छवि शासकों ने शैव परम्परा के जो बीज नेपाल में डाले वे वहाँ आज भी अंकुरित होकर फलफूल रहे हैं। लिच्छविकाल में नेपाल की भूमि पर बौद्धधर्म को भी प्रश्रय मिला और वहां उलका विकास हुआ। पाटन में यङ्गबहाल अभिलेख[8] से मानदेव के समय अवलोकितेश्वर की पाषाण-प्रतिमा की स्थापना तथा कुछ लिच्छवि नरेशों के नामों से सम्बन्धित विहारों एवं अन्य विहारों के उस काल में उल्लेख यह प्रमाणित करते हैं कि शैव-धर्म के साथ-साथ बौद्धधर्म का भी राज्य में समुचित आदर था जैसा नेपाल में बना हुआ है। तांत्रिक आचार्यों को भी अपने धर्म-पालन की छूट थी जिसका प्रमाण अभिलेखों में 'कारणपूजा' जैसे तांत्रिक शब्द से मिलता है। इससे आज भी नेपाल में बौद्धधर्म तथा तांत्रिक-पथ लोकप्रिय है।

सन्दर्भ

१. धनबज्रवज्राचार्य–**लिच्छवि काल का अभिलेख**, काठमाण्डू, सं० २०३०

२. तदेव, अभि० सं० १२६ तथा टिप्पणी ।

३. धनवज्रवज्राचार्य, तदेव, पृ० ३२७-२८

४. सुषमा मणि–**नेपाल से प्राप्त लिच्छवि अभिलेखों का अध्ययन**, काशी हिन्दू विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, १९८३, पृ० १५५-५६

५. **दि लिच्छवीज**, वाराणसी, १९७०, पृ० १९५

६. **एन्शेन्ट नेपाल**, कलकता, १९६९, पृ० १३०

७. वाग्भट–**अष्टाङ्ग संग्रह**, उत्तर, पृ० २५-३५

८. धनवज्रवज्राचार्य–तदेव, अभि० सं० १७२

चन्द्र सिंह बिष्ट*

कुमाऊँनेश्वर (कुमासर-महादेव) : नैनीताल

कठिन भू-स्थली, श्वेत-धवल हिमश्रृंखलाओं से शोभित, हरियाली से लकदक अकूत वैभव के धनी उत्तराखण्ड को शिव ने अपनी साधनास्थली बनाया। मीलों लम्बी-चौड़ी घाटियों, दुर्गम-गहन वनों और गिरि-श्रृंखलाओं में स्थित मन्दिरों में शिव-भक्तों ने पता नहीं कितनी शिव-प्रतिमायें विभिन्न रूपों में स्थापित की हैं। जिज्ञासु सर्वेक्षक, यत्र-तत्र बिखरी इस पुरा-सम्पदा को समुचित जानकारी विद्वतजनों तक पहुंचाने के लिये प्रयत्नरत हैं।

कुमाऊँ मण्डल के जनपद एवं तहसील नैनीताल के ग्राम प्यूड़ा-दियारी के दक्षिण-पूर्व दिशा की ओर मोटर-मार्ग से नीचे, कुमासर गधेरे के दाहिने किनारे पर कुछ प्राचीन देवालयों के मात्र भग्नावशेष ही अब विद्यमान हैं जिसे लोग वर्तमान में कुमाऊँनेश्वर नाम से पुकारते हैं। यहां पर स्थानीय श्मशान घाट भी है। चीड़ी, बांज, बुरांस, खरस्यूँ एवं देवदार के सघन वृक्षों के बीच स्थित मन्दिरों के ध्वंसावशेष सुनहरे अतीत की व्यथा-कथा सुना रहे प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि अतीत में ये मन्दिर कला के उत्कृष्ट नमूने रहे होंगे। यहां पहुंचने के लिये अलमोड़ा से लगभग २० कि० मी० एवं काठगोदाम से लगभग ९० कि० मी०, अलमोड़ा से मौना/चापड़, ल्वेसाल जाने वाली बस द्वारा जाना होता है।

इस क्षेत्र के लोग इन देवालयों को **"कुमासर महादेव"** के नाम से भी पुकारते हैं। उन लोगों की धारणा है कि रूहेलों ने अपनी धार्मिक समर नीति के कारण इन देवालयों को नष्ट कर दिया था, किन्तु भौगोलिक स्थित को ध्यान में रखते हुए ऐसा अनुमान है कि कालान्तर में किन्ही प्राकृतिक आपदाओं के कारण ये देवालय नष्ट हुए होंगे।

वर्तमान समय में एक बाड़े के भीतर कुछ देवालयों के विभिन्न अलंकृत शिला-खण्ड, आमलक इत्यादि यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। स्थानीय लोगों द्वारा ध्वस्त देवालयों के पाषाण-खण्डों

* क्षेत्रीय पुरातत्व इकाई, सिराड़ी भवन, खत्याड़ी, अलमोड़ा।

से एक छोटा सा लगभग ढाई फीट ऊँचा, चार फीट चौड़ा वर्गाकार देवालय, बिना किसी शास्त्रीय विधान के, बनाया गया है। इस मन्दिर के अन्दर भगवान विष्णु की एक चतुर्भुजी स्थानक प्रतिमा स्थापित की गई है, जिसकी पूजा की जाती है।

लगभग २६×१४ से० मी० माप की **विष्णु-प्रतिमा** में समपाद-मुद्रा में खड़े स्थानक विष्णु के वरद् मुद्रा में प्रदर्शित अगले दायें हाथ में अक्षमाला तथा पिछले दायें हाथ में सनाल पद्म सुशोभित हैं। अगले बायें हाथ में शंख एवं पिछले में चक्र प्रदर्शित किया गया है। विष्णु के गदा आयुध का इस प्रतिमा में अभाव प्रतीत होता है। मुकुटधारी विष्णु, कानों में कुण्डल, गले में कण्ठहार, वैजयन्ती माला, यज्ञोपवीत धारण किये हैं तथा हाथों में कंगन, पैरों में नूपुर पहने हुये हैं। कटिबंध से धोती को कस कर बांधा हुआ दिखाया गया है। विष्णुदेव के दोनों ओर नमस्कार मुद्रा में घुटनों के सहारे बैठे परिचारक एवं परिचारिका प्रदर्शित हैं। प्रभामण्डल पुष्पाकृतियों से शोभित किया गया है।

गदेरे के बायीं ओर लगभग सौ गज की दूरी पर खेतों के किनारे एक अन्य छोटा सा देवालय अवस्थित है। इस देवालय को भी स्थानीय लोगों द्वारा मूर्तियों की सुरक्षा की दृष्टि से उसी प्रकार बिना किसी शास्त्रीय विधान के प्राचीन मन्दिरों के अलंकृत शिला-खण्डों द्वारा बनाया गया है। लगभग तीन फीट वर्गाकार और दो फीट ऊँचे इस देवालय की पिछली दीवार का सहारा खेत की ऊँचाई से लिया गया है। यह देवालय उत्तर की ओर पूर्णरूप से खुला है। प्राचीन मन्दिरों का चैत्यगवाक्ष, अलंकृत शिलाखण्ड, शिव वाहन नन्दी, शिवलिंग इत्यादि कलाकृतियाँ इस मन्दिर के बाहर रखी हुई हैं तथा मन्दिर में शिव एवं पार्वती की मूर्तियां स्थापित की गई हैं।

लगभग ५४×२५ से० मी० माप की हल्के हरे रंग के पत्थर में निर्मित **शिव-प्रतिमा** में समपाद-मुद्रा में स्थानक चतुर्भुज शिव के अभय-मुद्रा में उठे अगले दायें हाथ में अक्षमाला तथा पिछले मे त्रिशूल प्रदर्शित हैं (चि० सं० ७)। त्रिशूल की लम्बाई चरणचौकी को स्पर्श करते हुए शिव के समकक्ष है। उनके अगले बायें हाथ में कमण्डलु तथा पिछले हाथ में पुष्प सुशोभित है।

त्रिनेत्रधारी–शिव का जटामुकुट मोतियों से अलंकृत है। मस्तक पर अर्धचन्द्र शोभायमान है। जटामुकुट से निकलती हुई लहरदार घुंघराली लटें कानों के पीछे से दोनों पार्श्वों से होकर उनके स्कन्धों तक फैली हुई हैं। कानों में पुष्पवत् कुण्डल पहने हुए हैं तथा बायें कान का कुण्डल उनकी लट को स्पर्श कर रहा है। गले में कण्ठहार (रुद्राक्षमाला) पहने हुये हैं। सर्प-यज्ञोपवीत एवं कमर-बंध भी शोभायमान है। सर्प-यज्ञोपवीत की गांठ बायीं ओर के वक्ष से थोड़ा ऊपर सर्प की पूंछ एवं फण से स्पष्ट दिखाई देती है। ऊर्ध्वलिंगी शिव बाघाम्बर पहने हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है उनकी उन्नत जांघों के लिये बाघाम्बर की चौड़ाई कम पड़ गयी है। उल्लेखनीय है कि शिव का ऊर्ध्वलिंग व्याघ्रचर्म एवं कटिबंध से बंधा हुआ है। वे हाथों में कंगन, बांहों में भुजबंध धारण किये हुए हैं। वासुकी त्रिशूल से अठखेलियां कर रहे हैं। शिव की मुख-मुद्रा सौम्य है। उनके पीछे नन्दी घुटनों के बल बैठे हुये आराम कर रहे हैं।

इसी मन्दिर में विद्यमान देवी **पार्वती** की समपाद-मुद्रा में स्थानक प्रस्तर प्रतिमा लगभग ५४ से० मी० ऊँची तथा २४ से०मी० चौड़ी है। द्विभुजी देवी के अभय मुद्रा में उठे दायें हाथ में अक्षमाला तथा बायें हाथ में कमण्डल शोभित हैं। देवी का जटामुकुट मोतियों से अलंकृत है। सिर पर वे शीशफल भी धारण किये हुए हैं, जटामुकुट से निकलती हुई लहरदार लटें कानों के पीछे से होती हुई स्कन्धों पर फैली हैं। दोनों कानों में पुष्प-वृत्त कुण्डल, गले में कण्ठहार (रुद्राक्षमाला) एवं उन्नत वक्षों के बीच से होती हुई नाभि को स्पर्श करती मोती-माला शोभायमान है। वे मोतियों से जड़ित उदरबन्ध, कटिसूत्र, कंगन और भुजबन्ध से सुसज्जित हैं।

लहरदार धोती पहने हुए देवी ने मोतियों से सज्जित कमरबंध (कटिसूत्र) द्वारा धोती को कस कर बांधा हुआ है, तथा कमरबंध की गांठ पुष्प से अलंकृत है। उत्तरीय (?), पावों, जांघों एवं बाहों पर लिपटा हुआ है। पांवों तक वस्त्र होने के कारण पैरों का अलंकरण नहीं दिखाई दे रहा है। देवी के नाक, गाल, दायीं आंख, दायें हाथ की दो अंगुलियां तथा दायीं जांघ आंशिक रूप से खण्डित हैं। मुखमुद्रा सौम्य है।

मूर्तिकला-विज्ञान और यत्र-तत्र-बिखरी पुरासम्पदा के अलंकृत शिला-खण्डों के अलंकरणों के आधार पर उक्त तीनों प्रतिमाओं को लगभग ९-१० वीं शती ई० में निर्मित माना जा सकता है। यह समय कुमाऊँ में कत्यूरी राजाओं का वैभव-काल था। इस आधार पर हम इनको कत्यूरी काल की कलाकृतियाँ कह सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कुमाऊँ में "कुमाऊनेश्वर" अर्थात् कुमाऊँ का भगवान नामक यह पहला मन्दिर प्रकाश में आया है।

राकेश तिवारी*

हुलासखेड़ा का पुरातात्विक उत्खनन

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के निकट आज से लगभग १८०० वर्ष पूर्व कोई ऐसा नगर भी था जिसका सम्पर्क दूर-दूर के नगरों से था और जहां पक्की ईटों से बने बड़े-बड़े सुनियोजित आवासों में रहने वाले धर्मप्राण निवासी मन्दिर और पक्की सड़कें बनाने में दक्ष थे, इसकी जानकारी अभी हाल तक किसी को नहीं थी। लगभग २७०० वर्ष पूर्व के एक सामान्य मानव-निवास स्थल से विकसित होकर यह नगर आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व उजाड़ होकर एक ढूहे के रूप में रह गया। लोग यहां से हटकर अन्यत्र रहने लगे लेकिन टीले पर इधर-उधर अवशिष्ट पूर्वकालीन आवासों की संरचनाएं, ईटें, बर्तनों के टुकड़े और सिक्के आदि यहां के प्राचीन निवासियों की याद दिलाते रहे। यह टीला लखनऊ से २४ कि०मी० की दूरी पर स्थित तहसील मुख्यालय मोहनलालगंज से ६ कि०मी० दूर स्थित हुलासखेड़ा ग्राम के उत्तर में करेला झील के बीच में अवस्थित है। गांव से टीले तक जाने के लिये एक संकरा मार्ग है। लखनऊ-रायबरेली मोटर–मार्ग पर स्थित मोहनलाल गंज तक बस, रेल और अन्य साधनों से पहुंचना सहज है, वहाँ से अतरौली गांव होकर हुलासखेड़ा पहुंचते हैं। सामान्य तल से लगभग ६ मीटर ऊँचा यह टीला कई एकड़ में विस्तृत है (मान चित्र)।

प्राचीन स्थान से हटकर निकट ही नयी बस्ती बसा कर रहने वालों ने टीले के उत्तरी भाग में एक नया मन्दिर बना कर उसके गर्भगृह में देवी-प्रतिमा की स्थापना की। इसका धड़-भाग सीमेन्ट से बनाकर उसके ऊपर टीले से मिला विष्णु-मुख लगा दिया गया। प्रतिमा के बायें पार्श्व में एक प्राचीन मृण्मूर्ति और दायें पार्श्व में मुखलिंग की स्थापना कर दी गयी। यह मन्दिर कलेश्वरी देवी मन्दिर के नाम से विख्यात हुआ। इसी प्रकार गांव के अन्दर एक अन्य नवीन मन्दिर में भी टीले के पूर्वी भाग के पेड़ के नीचे पड़े मुखलिंग की स्थापना कर दी गयी। देवी मन्दिर की मान्यता क्रमशः बढ़ती गयी और प्रत्येक वर्ष विभिन्न पर्वों पर मन्दिर आने

* उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी, कैसरबाग, लखनऊ
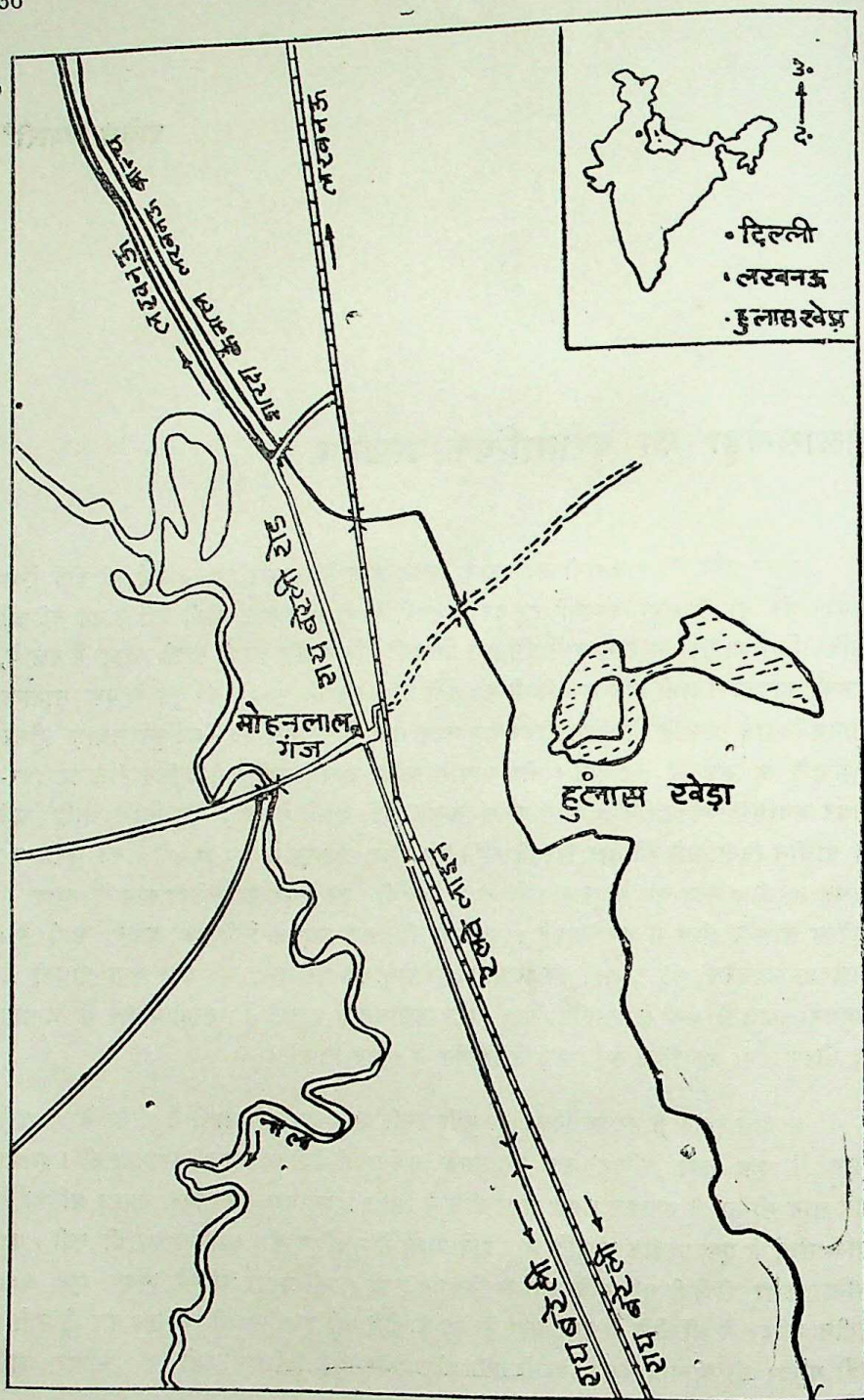
मान चित्र

वालों की भीड़ बढ़ती गयी । मेले में आने वाले और नयी बस्ती के निवासी मन्दिर के बगल के टीले को देखते और अपनी-अपनी समझ के मुताबिक कहानियाँ गढ़ते । कोई कहता "टीले में पुराने राजाओं का खजाना गड़ा है, तबै तो हिंया साक्षात् नागराज वास करत हैं ।" कुछ लोग कहते "हिंया दिव्य आत्माएं रहत हैं, हिंया क्यार एकौ ईंट उठावै वाले पर आपत-विपत टूट परिहैं ।" इन कथाओं और विश्वासों के कारण जिज्ञासा के बावजूद किसी ने टीले को खोद कर खजाना पाने की कोशिश नहीं की ।

टीले का मन्दिर और गांव से क्या सम्बन्ध है ? यहाँ कितने समय से लोग रहते रहे ? यहाँ की बहुआयामी ईंटें, पुरावशेष और मूर्तियां किस सांस्कृतिक युग की सनद हैं ? इन प्रश्नों पर पुराविदों का ध्यान गया भी तो इतना कम कि उसकी जानकारी सामान्यजनों तक नहीं पहुंच सकी । कालान्तर में टीले और आस-पास के पुरावशेषों को टटोलते हुए कलेश्वरी देवी-मन्दिर की मुख्य प्रतिमा के मुख-भाग और मुखलिंग के लक्षणों पर विचार किया गया तो सौम्य मुखमण्डल, अर्द्धनिमीलित नेत्रों, लम्बकर्ण और एकावलि आदि से उन्हें आज से लगभग १५०० वर्ष पूर्व (गुप्त काल) का माना गया । इसी प्रकार मन्दिर की मृण्मूर्ति की सिरोभूषा और खुली हुई आंखों आदि लक्षणों ने उसके लगभग १८०० वर्ष पूर्व (कुषाण काल) निर्मित होने के मुखर साक्ष्य प्रस्तुत किये । गांव के मन्दिर के लिंग के मुख का जटाजूट, मस्तक पर प्रदर्शित समानान्तर त्रिनेत्र, खुले नेत्रों और एकावलि तथा मुख-भाव से उसके कुषाणकालीन होने में सन्देह नहीं रह गया (चित्र सं० ४) । मन्दिर के निकटवर्ती खेतों की सिंचाई के लिये पुराने कुँए की सफाई करते समय १९७८ ई० में कुछ पुरासामग्री मिलने पर इसकी सूचना पाकर उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन की टोली द्वारा कुँए और सामग्री तथा निकटवर्ती क्षेत्र के निरीक्षण से ग्रामीणों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि न केवल खेत का कुँआ वरन् मन्दिर से सटा वह कुँआ भी लगभग १८०० वर्ष पुराना है, जिसका सुस्वादु पानी वे वर्षों से पी रहे हैं । कुँए से मिली सामग्री भी इतनी ही प्राचीन सिद्ध हुई । इसके अतिरिक्त टीले पर काले लेपित पात्र (ब्लैक स्लिप्ड वेयर), सिलेटी पात्र (ग्रे वेयर) आदि ऐसे वर्तनों के टुकड़े भी मिले जिन्हें लगभग ७०० ई० पू० तक प्राचीन मानने में द्विविधा नहीं है । इन प्रमाणों से टीले में कम से कम २५०० वर्ष तक प्राचीन पुरावशेषों के दबे होने का अनुमान लगा । तद्नुसार प्रारम्भ में टीले का सांस्कृतिक कालानुक्रम ज्ञात करने के लिये सत्र १९७८-७९ में[१] टीले के पूर्वी छोर पर १० × १० मीटर क्षेत्र में और कालान्तर में कुषाण और गुप्त कालीन आवासीय विधान के तुलनात्मक अध्ययन के लिये सत्र १९७९-८०-८१-८२ ८३-८४ में इसी माप की ५० से भी अधिक गर्तों (ट्रेन्चों) में **पुरातात्विक उत्खनन** कराया गया जिसके आगामी सत्रों में भी चलते रहने की योजना है ।[२]

उत्खनन के साथ क्रमशः टीले की पर्तें पलट-पलट कर उसके नीचे दबी पुरसम्पदा उजागर की जाने लगी तो स्थानीय निवासी यह देख-देख कर हैरान होने लगे कि जहां वे नागरक्षित कोष निकलने की अपेक्षा कर रहे थे वहां से ढेरों टूटे-फूटे बर्तन और खण्डहर निकल रहे हैं, इन्हें खोदने वालों पर कोई 'आपत-विपत' भी नहीं टूट रही है, और यही सामग्री पुराविदों के लिये

अतीत की कथा समझने के लिये स्रोत बन गयी है। इनके अध्ययन से पता चला कि यहां के सांस्कृतिक-क्रम को मोटे तौर पर चार भागों में बांटा जा सकता है—

प्रथम काल	लगभग ७००–३०० ई० पू०
द्वितीय काल	लगभग ३०० ई० पू०–२०० ई०
तृतीय काल	लगभग २०० ई०–७०० ई०
चतुर्थ काल	लगभग ७०० ई०–उत्तर मध्य काल

प्रथम काल से सम्बन्धित पुरासामग्री पहली गर्त की सबसे निचली ७ पर्तों (१ मीटर ७० से० मी०) में पायी गयी है। इसके अनुसार ऐसा लगता है कि कहीं से आये यहाँ के प्रारम्भिक निवासी झोंपड़ी बना कर रहते रहे होंगे। ये लोग अस्थि-बांणाग्रों से विभिन्न पशुओं का आखेट करते रहे होंगे और पशुमांस उनके भोजन का मुख्य स्रोत रहा होगा। इन स्तरों से मिली ढेरों जली और बिना जली अस्थियां इसकी ओर इंगित करती हैं। अस्थि निर्मित बाँणाग्रों और सूजों की प्राप्ति इन अस्थियों से बांणाग्र और सूजे आदि बनाने तथा सूजों से कपड़े सिलने की ओर संकेत करते हैं। ये लोग काले लेपित (ब्लैक स्लिप्ड), काले लाल (ब्लैक एण्ड रेड), लाल, सादे सिलेटी (प्लेन ग्रे वेयर) तथा उत्तरी कृष्ण मार्जित (एन० बी० पी०) पात्रों का उपयोग करते थे। काले-लाल और सिलेटी पात्रों का उपयोग सीमित मात्रा में किया जाता था। एन० बी० पी० का प्रयोग प्रारम्भ से काफी बाद में और नाममात्र के लिये ही किया गया। लाल पात्रों में धान की भूसी के चिन्ह वाले (हस्क मार्कड) और विशिष्ट 'कॉर्ड इम्प्रेस्ड' हस्तनिर्मित पात्र भी अत्यल्प मात्रा में प्रयुक्त हुए। पात्रों में उन्नतोदर तश्तरियां (कानवेक्स साइडेड डिशेज), सीधे किनारे वाले कटोरे, बड़े संग्रह-पात्र, नांद, जल-पात्र, अरघे (लिप्ड बाउल्स), छिद्रित ढक्कन, लघु पात्र तथा 'फूटेड बाउल' प्रमुख हैं।

पात्रों की प्राप्ति के अनुसार इस काल को दो उपकालों में बांट सकते हैं। प्रथम उपकाल के सबसे नीचे की तीन पर्तों में काले लेपित पात्र सबसे अधिक पाये गये हैं और इसमें एक विशिष्ट पात्र एन० बी० पी० नहीं मिलता है। इसके बाद की चौथी पर्त में नाममात्र को ही पुरावशेष मिले हैं जिससे लगता है कि कदाचित इस अवधि में कम से कम उत्खनित क्षेत्र में लोगों का निवास नहीं रहा। द्वितीय उपकाल में लाल रंग के पात्र सर्वाधिक हैं और एन० बी० पी० मिलने लगता है। प्रथम उपकाल में लौह-उपकरण न पाये जाने और द्वितीय उपकाल में एक लौह-उपकरण मिलने के साक्ष्यानुसार यद्यपि यहां पूर्व लौह काल (प्री आइरन फेज) की बात की गयी है[3] लेकिन १० × १० मीटर की मात्र एक 'ट्रेन्च' की पुरासामग्री के साक्ष्य पर यह मानना कहां तक युक्तिसंगत है?

इस युग के लोग अल्प मात्रा में मनके, अस्थि-चूड़ियां और हाथीदांत के उपकरण प्रयोग करते और पशु-मृण्मूर्तियां बनाते थे। इस काल की कोई रेडियो कार्बन तिथि न ज्ञात होने के कारण कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना संभव नहीं है। फिर भी परिस्थितिजन्य साक्ष्यों के अनुसार इस काल की तुलनात्मक तिथि दी जा सकती है। परियर, प्रहलादपुर और शृंगवेरपुर

आदि अन्य स्थलों पर काले लोपित पात्रों के एन० बी० पी० स्तरों से पूर्व के स्तरों से प्राप्ति के आधार पर उन्हें लगभग ९०० ई० पू० तक प्राचीन माना गया है[४], इसी आधार पर हुलासखेड़ा के प्राचीनतम स्तरों को लगभग ७०० ई० पू० तक प्राचीन माना जा सकता है।

द्वितीय काल को 'शुंग-कुषाण काल' कह सकते हैं। इस युग के प्रारम्भ में यहां के निवासियों ने चूना-मिश्रित मसाले[५] से ४३ × २५ × ७ से० मी० आकार की मिट्टी की पकी ईटों को जोड़ कर अपने आवास बनाये। पूर्व काल की तरह इस युग में भी अस्थि बांणाग्रों, सूजों, मनकों और चूड़ियों का प्रयोग किया जाता रहा। प्रथम काल के द्वितीय उपकाल की तरह लाल रंग के पात्र ही सर्वाधिक प्रयोग किये जाते रहे। इनमें गोल आधार वाले दाबात-नुमा ढक्कन (इन्क पॉट टाइप लिड्स विथ राउण्डेड बेस), घण्टीनुमा ढक्कन (बेल शेप्ड लिड), 'कैरीनेटेड हाण्डी' और 'लिप्ड बेसिन' प्रमुख हैं।

शुंग-कुषाण संक्रमण-युग में यहाँ के निवासी शैव मत से प्रभावित हो गये। इस काल की ५ पर्तों (१.६५ मीटर) में से दूसरी पर्त (लेयर नं० ८) से मिली 'कार्तिकेय' की स्वर्ण-प्रतिमा इसका मुखर साक्ष्य प्रस्तुत करती है (चित्र सं ५)। यह प्रतिमा न केवल तत्कालीन धार्मिक विश्वास, एवं काल निर्धारण वरन् कला की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ३.७ × २.५ से० मी० माप के स्वर्ण-पत्र पर छाप कर बनायी गयी इस प्रतिमा पर शुंग और कुषाण काल की कला का स्पष्ट प्रभाव दिखता है। सामपाद मुद्रा में खड़े देवसेनानी की त्रिशिख केश-सज्जा, पतगा-कार नेत्र और मुख-मुद्रा शुंगकालीन प्रतिमाओं की तरह तथा सुपुष्ट वृषभ-स्कन्ध, प्रशस्त वक्ष, क्षींण कटि, मोटे कण्कण, भारी अधोभाग और धोती का फेंटा कुषाण कालीन विशिष्टताओं के अनुरूप हैं। उनके ऊपर उठे दायें हाथ में शूल शोभायमान है। बायें हाथ से वे बायें स्कन्ध से खिसकते हुए उत्तरीय को संभाल रहे हैं। कर्णकुण्डल और कण्ठहार से सज्जित कुमार की यह प्रतिमा ई० पू० की प्रथम शताब्दी में रखी जा सकती है। इस प्रकार कदाचित यह कार्तिकेय की अब तक ज्ञात प्राचीनतम प्रतिमा है।

शुंग काल के उपरान्त कुषाण काल (ई० सन की प्रथम दो शताब्दियां) हुलासखेड़ा के निवासियों की उन्नति का चरम-काल जान पड़ता है। इस युग में ३९ × २४ × ६.५ से० मी०, ३७ × २२ × ६ से० मी० और ३७ × २२ × ५ से० मी० आकार वाली मिट्टी की पकी ईटों से बड़े-बड़े आवास बनाये गये, इनके बीच में गली बनाने को प्राविधान किया गया, झील पार करने के लिये पूर्वी भाग में पकी ईटों से निर्मित मार्ग बनाया गया और उसके पूर्वी छोर पर पूजा के लिये मन्दिर भी निर्मित हुआ। अवासों में जल-निकास के लिये ढलावदार पक्की नालियां बनायी गयीं (चित्र सं० ३)। कक्षों के कोने में बड़े-बड़े अन्न-पात्र रखने के लिये ईटों को काट कर अर्द्धचन्द्राकार स्थान बनाये गये (चित्र सं० १)। उत्खनन द्वारा यथास्थान पाये गये पात्रों में सुरक्षित जले हुए चने मिले हैं। आवासों के भीतर ही बनाये गये अनेक चूल्हे भी उत्खनन से प्रकाश में आये हैं।

गांव के नवीन मन्दिर का एकमुख लिंग संभवतः इसी काल में यहां के शैव-मतावलम्बियों द्वारा यहां बनाये गये लगभग १२.४० × १२.३० मीटर माप के मन्दिर में स्थापित रहा होगा। पकी ईटों, तालाब की मिट्टी और खण्डित ईटों से 'बाक्स पैटर्न' पर निर्मित मार्ग अब तक लगभग २०० मीटर तक खोदा जा चुका है। इसकी चौड़ाई ९.५० मीटर है।[६] इस प्रकार यहां की पूर्वकालिक सामान्य बस्ती ने एक विकसित नगर का रूप ले लिया।

लाल रंग के बर्तन इस युग में भी लोकप्रिय रहे लेकिन इस युग के कुम्हारों ने पात्रों पर 'नन्द्यावर्त' और 'त्रिरत्न' जैसे मांगलिक चिन्ह छापने शुरू कर दिये। अन्दर की ओर मुड़ी अवठ वाले सकोरे (इनटर्नड बाउल्स) और सपाट आधार वाले दावातनुमा ढक्कन (इन्क पॉट टाईप लिड विध फ्लैट बेस) इस युग के प्रमुख पात्र हैं।[७] इस युग के लोग मृण्मूर्तियां बनाने के लिये सिरोभाग और अधोभाग अलग-अलग बना कर जोड़ देते थे। इसके लिये ग्रीवा को लम्बी और नोकदार बना कर धड़-भाग से जोड़ा जाता था। इनकी आंखें उभरी, मुख खुले और मूंछे लम्बी दर्शायी गयी हैं। आंख की पुतलियों, नासिका-रन्ध्रों और कर्ण-छिद्रों को छिद्र बना कर दर्शाया गया है। केश और दाढ़ी का प्रदर्शन छोटे-छोटे उकेरित अथवा छाप कर बनाये गये गढ़ों द्वारा किया गया है (चित्र सं० ६)।

इस युग के लोग गले में स्वर्ण, अस्थि, पत्थर और मिट्टी से निर्मित तथा सोने का पानी चढ़े मनकों की माला, हाथों में चूड़ियां और कंगन और आंखों में ताम्र-शलाका से अंजन डाल कर सजते तथा तरह-तरह की केश-सज्जाएं रचते थे। पांसा खेल कर मनोरंजन करने वाले ये लोग अब अस्थि-बांणाग्रों के साथ-साथ लौह-बांणाग्र तथा मांस के साथ अन्न का अधिक प्रयोग करने लगे। इनमें धन-संचय की प्रवृत्ति भी दिखती है। पर्त सं० ६ से मिले एक मटके में मिले गोल, चौकोर और आयताकार चांदी के आहत सिक्के और ताम्र-सिक्के इसके परिचायक हैं। चांदी के सिक्कों पर सूर्य-चन्द्र आदि चिन्ह पाये गये हैं। ताम्रसिक्के विभिन्न कुषाण राजाओं से सम्बन्धित हैं, इन पर प्रायः एक ओर उदीच्यवेशी राजा को ऊँची टोपी और तलवार धारण किये और दूसरी ओर हस्ति-सवार, वृषभ सहित शिव एवं आसनस्थ शिव का प्रदर्शन किया गया है। हुलासखेड़ा से मिले इस युग के अन्य सिक्कों पर भी ऐसा ही अंकन दिखता है।

तृतीय काल में हुलासखेड़ा के विकसित नगर की स्थिति यथावत रही। तत्कालीन मानवों ने प्रायः कुषाण काल में निर्मित बहुसंख्यक पकी ईटों का पुनर्प्रयोग करके अपने आवासों का निर्माण किया। इसके लिये पूर्ण और खण्डित दोनों तरह की ईटें पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुईं। इस काल में भवन-संरचनाओं के क्रमशः एक के ऊपर एक तीन चरण मिलते हैं। सबसे बाद में बनायी गयी संरचना में घनाकार ईटें प्रयोग की गयी हैं। यद्यपि उत्खनन से इस युग के किसी मन्दिर को प्रकाशित नहीं किया जा सका है फिर भी यहाँ से मिली बहुसंख्यक अलंकृत ईटों से इस युग में एक से अधिक बार इष्टिका-मन्दिर बनाये जाने का अनुमान होता है। इन ईटों पर भूमि—आमलक, चन्द्रिका, कीर्तिमुख, जालक-विधि और ताड़-पत्र आदि गढ़नों का प्रदर्शन उल्लेखनीय है। कलेश्वरी देवी-मन्दिर के गुप्तकालीन मुखलिंग और विष्णु-

मुख इन्हीं मन्दिरों में स्थापित रहे होंगे। इस काल में गणेश, उमा-महेश और महिषमर्दिनी की प्रस्तर प्रतिमाएं तथा नैगमेष की मृण्मूर्तियां मिली हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में शैव-मत के साथ-साथ शाक्त और वैष्णव मत का प्रभाव बढ़ा तथा शिशु-जन्म के देवता नैगमेष की पूजा भी लोकप्रिय हुई।

भांति-भांति के पूर्वकालिक अलंकरणों से सजने वाले लोग अब तरह-तरह की केश-सज्जा रचने में प्रवीण हो गये। ये लोग हल के फालों से खेती करने के अलावा कदाचित् दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार भी करने लगे। जगह-जगह (?) से यहाँ के राजा/मुखिया अथवा सामन्त (??) के लिए सामग्री आने लगी, स्वाभाविक रूप से इन पर बंधी मुद्राछापें फेंक दी जाती होंगी। ऐसी अनेक मुद्रा-छापें उत्खनन से मिली हैं, इनमें से कुछ पर 'महाराजस काशिकौपुत्रस्य गज........' पढ़ा गया है। यहां से प्राप्त 'रुद्रः' नामांकित मुद्राछाप कहीं से यहाँ आने वाली सामग्री की परिचायक है। 'रविभद्रस्य' और 'कविभद्रस्य' नामांकित मुद्राओं की यहाँ से प्राप्ति, इन नामों वाले यहाँ के सम्प्रभुता प्राप्त निवासियों का परिचय देती है। यहाँ से मिली एक गुप्तकालीन मुद्रा पर 'पत्रद्वयस्च' अथवा 'पत्रद्वयस्य' का अंकन रोचक है (चित्र सं० २)। कहीं यह यहाँ 'पत्रध्यक्ष' (पोस्ट मास्टर) की नियुक्ति का परिचायक तो नहीं है ?

इस काल के पात्रों की बाह्य सतह पर माइका का छिड़काव किया जाने लगा और कीलाकार शीर्ष वाले पात्र (कील हेडेड), 'फूटेड बाउल' विशेष रूप से बनने लगे। बटन जैसी घुण्डियों वाले ढक्कन (बटन नाब्ड लिड्स), ऊपर से लगी टोटियां (ल्यूटेड स्पाउट्स) और गहरे कटोरे प्रमुख हो गये। जल-पात्र, 'स्प्रिंकलर', 'लिप्ड पात्र' तथा सुराही भी बनती रहीं। लाल रंग के इन पात्रों पर 'स्लिप' अथवा ओप तथा उकेरित डिजाइनें दिखती हैं।

इस काल की पर्तों में मिले सिक्कों में गुप्तकालीन मयूर प्रकार और छत्रप सिक्के प्रमुख हैं। प्रारम्भिक मृण्मूर्तियों के सिरोभाग और धड़-भाग को अलग-अलग बनाकर जोड़ने की परम्परा तो चलती रही लेकिन अब मोटे ओंठ, अर्द्ध उन्मीलित नेत्र, सुदृढ़ नासिका, लम्ब कर्ण और सौम्य मुख मण्डल का प्रदर्शन उनके प्रारम्भिक गुप्तकाल से सम्बन्धित होने का स्पष्ट परिचायक है। कालान्तर में मृण्मूर्तियों का निर्माण इकहरे साँचे में ढालकर किया जाने लगा। नैगमेष की मृण्मूर्तियां प्रमुख हैं, इनमें मानवमुख और अजमुख युक्त दोनों प्रकार की मूर्तियां सम्मिलित हैं। दम्पति प्रकार और अन्य प्रकारों की मानव तथा पशु मृण्मूर्तियां भी पायी गयी हैं। इनकी छत्र शैली, भ्रमरक शैली और त्रिशिख आदि केश सज्जायें उल्लेखनीय हैं।

ऐसा लगता है कि **चतुर्थ काल** और तृतीय काल के मध्य कुछ समय तक उत्खनित क्षेत्र में किन्हीं कारणों से आवासीय गतिविधियों में व्यवधान पड़ा क्योंकि पूर्वोल्लिखित काल की अन्तिम भवन-संरचना एवं सांस्कृतिक अवशेषों के जमाव के ऊपर लगभग २०–२५ से० मी० मोटा ऐसा जमाव पाया गया है जिसमें पुरावशेष नहीं के बराबर मिलते हैं। इस काल में लगभग ९वीं शती ई० और उसके बाद मन्दिर-निर्मित करने के परिस्थितिजन्य साक्ष्य अलंकृत ईंटों के रूप में मिलते हैं। ये मन्दिर कम से कम १००–१५० वर्ष तक तो अपने मौलिक स्वरूप में

रहे ही होंगे । तदुपरान्त किसी समय किसी सामन्त अथवा स्थानीय शासक द्वारा यहाँ की शुंग, कुषाण, गुप्त और उसके बाद की ध्वस्त भवन-संरचनाओं की ईटों का उपयोग करके एक लगभग १५०×१६० मीटर आकार का दुर्ग और उसके भीतर एक आवासीय भवन का निर्माण कराया जाने लगा । दुर्ग के पश्चिम में प्रवेश द्वार, पूर्व में निकास द्वार तथा प्राचीरों पर जगह-जगह ऊपर चढ़ने के लिये सोपानों और जल-निकास के लिए प्रणालियों का प्राविधान रखा गया । कदाचित् किन्हीं कारणों से यह दुर्ग अधूरा ही रह गया । इसके उपरान्त यहाँ भवन-निर्माण के तीन चरण मिलते हैं । दुर्ग के प्रवेश द्वार के निकट वृत्तायत एवं अण्डाकार भट्ठियां एवं बड़ी मात्रा में लौह-अयस्क और लौह-बांणाग्र पाये गये हैं । दुर्ग-निर्माण से सम्बन्धित स्तर से ऊपर पायी गयी भवन संरचना की तृतीय पर्त में मुस्लिम-काल से सम्बद्ध 'ग्लेज़ड वेयर' और चूड़ियां बनाने की काफी सामग्री पायी गयी है । सबसे ऊपर की सतहों में झोपड़ियों में लगायी गयी बल्लियों के ऐसे छिद्र (पोस्ट होल्स) पाये गये हैं जिनमें सड़ी हुई लकड़ी के साथ जीवित दीमक भी उपस्थित मिले हैं जो कि हुलासखेड़ा के इस टीले पर आदमी के निवास के बहुत अधिक दिन न बीतने की गवाही देते हैं ।

ऊपर उल्लिखित दुर्ग की स्तरीय स्थिति (स्ट्रैटीग्रैफिक स्थिति) और उसकी प्राचीरों में प्रयुक्त पूर्वकालिक शुंग, कुषाण, गुप्त और उसके बाद की अलंकृत एवं घनाकार ईटें उसके १०वीं शती ई० के उपरान्त किसी समय निर्मित किये जाने का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं ।[८]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के अनुसार हुलासखेड़ा में आज से लगभग २७०० वर्ष पूर्व झोपड़ों में रहने वाले निवासियों ने क्रमशः उन्नति के सोपान चढ़ते हुए लगभग १८०० वर्ष पूर्व पक्की ईटों से आवास, गलियां, मन्दिर और मार्ग बना कर इस स्थान को एक विकसित नगर का रूप प्रदान कर दिया, लगभग १३०० वर्ष पूर्व तक यह नगर पतनोन्मुख हुआ और कालान्तर में पुनुर्त्थान के लिये सांसें भरते हुए अन्त में पुनः झोंपड़ों में रहने वालों की छोटी बस्ती में तब्दील हो गया । हुलासखेड़ा के अब तक के उत्खनन से यद्यपि टीले के खजाने और उससे जुड़ी अनेक कथाओं तथा पुराविदों की जिज्ञासा काफी शान्त हुई है लेकिन कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य यथा—इतने विकसित और समृद्धिशाली नगर का तत्कालीन नाम तथा उसका राजनीतिक महत्व क्या रहा है ? यहाँ से जाने वाला मार्ग कहाँ-कहाँ से जुड़ा रहा है और यहाँ पायी गयी मुद्राछापों का सम्बन्ध किन नगरों से रहा है ? अभी अन्वेषकों की पैनी दृष्टि से छिपे हुए हैं ।

सन्दर्भ

१. **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू : १६७८-७६**, पृ० ७४-७५ ।

२. **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू : १६७६-८०, ८१-८२**; पृ० ७७, पृ० ७१ ।

३. तिवारी, वी० के०—**एक्सकेवेशन्स ऐट हुलासखेड़ा**, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, सं० २७-२८, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, १६८१, पृ० ४३ ।

४. तदेव, पृ० ४२-४३; **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू : १६७८-७६**, पृ० ७४-७५; हुलासखेड़ा का उत्खनन, **उत्तर प्रदेश** (पुरातत्व अंक), सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, पृ० ६५-६७

५. इसी अंक में 'हुलासखेड़ा के मसाले' पर प्रकाशित लेख का अवलोकन करें।

६. इसी अंक में प्रकाशित अगले लेख में प्रकाशित प्रश्नगत मार्ग का विस्तृत विवरण देखने का कष्ट करें।

७. इस काल में मकरमुख और कूर्ममुख वाली टोटियां मिलने का उल्लेख किया गया है (तिवारी—तदेव, पृ० ४३) लेकिन हुलासखेड़ा से इस काल से सम्बन्धित ऐसा एक भी पात्र नहीं पाया गया है।

८. इस दुर्ग को गुप्त काल में निर्मित माना जाता रहा है (तिवारी-तदेव, पृ० ४४-४६; **इण्डियन आर्कलॉजी ए रिव्यू १६७९-८०**, पृ० ७७, **हुलास खेड़ा का उत्खनन**-तदेव), लेकिन प्रमाणों की सम्यक विवेचना के अनुसार इसे किसी भी तरह गुप्त कालीन नहीं माना जा सकता है। (श्रीवास्तव, राकेश हुलासखेड़ा का प्राचीन दुर्ग, **ध्यानम अंक ३** पृ० ३९-४५)

आभार

प्रस्तुत लेख के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण सुझावों एवं सहयोग के लिये लेखक श्री राकेश श्रीवास्तव और श्री बलराम कृष्ण का हृदय से आभारी है।

राकेश श्रीवास्तव*

कुषाण कालीन इष्टिका-देवालय और मार्ग : हुलासखेड़ा

हुलासखेड़ा के पुरातात्विक उत्खनन से प्रकाश में आये पुरावशेषों में कुषाण कालीन इष्टिका-मन्दिर और ईंटों से निर्मित मार्ग सर्व प्रमुख हैं। हुलासखेड़ा गांव के छोर पर गांव और प्राचीन टीले के बीच करेला झील के किनारे कराये गये उत्खनन द्वारा प्राप्त ईंटों से निर्मित संरचना की पहिचान कुषाण कालीन **देवालय** के रूप में की जा सकती है। इसके पूर्व मथुरा जिलान्तर्गत सोंख[1] और बिजनौर जिलान्तर्गत मौरध्वज[2] से भी कुषाण काल के इष्टिका-मन्दिर प्रकाश में आ चुके हैं। सोंख का मन्दिर वृत्तायत और मौरध्वज का मन्दिर खण्डित ईंटों से निर्मित होने के कारण हुलासखेड़ा के मन्दिर से भिन्न है।

हुलासखेड़ा का देवालय अच्छी तरह पकी ईंटों से निर्मित किया गया था। उत्खनन से प्रकाश में आयी पूर्ण ईंटें दर्शनीय हैं। यह मन्दिर लगभग वर्गाकार बनाया गया है। इसमें वेदिका, गर्भगृह और प्रदक्षिणा-पथ का प्राविधान रखा गया है। मन्दिर के पीछे दक्षिणी कोनों पर दोनों ओर कर्ण-प्रासाद निर्मित हैं। ऐसा लगता है कि मन्दिर के चारों कोनों पर एक-एक ऐसे ही प्रासाद बनाये गये होंगे जो कालान्तर में ध्वस्त हो गये। इस प्रकार यह पंचायतन प्रकार का मन्दिर रहा होगा।

मन्दिर की लम्बाई १२.४० मीटर और चौड़ाई १२.३० मीटर है। वेदिका का निर्माण एक चबूतरे के रूप में किया गया है जिसमें ईंटों की कुटाई कर के सतह को मजबूत बनाया गया है। पुनः लगभग २० से० मी० की ऊँचाई तक वेदिका निर्मित की गयी है। इसकी माप १.९३ × १.५२ मीटर है। इसमें प्रयुक्त ईंटों की माप ३५ × २० × ६.५ से० मी०, ३६ × २१ × ६ से० मी०, एवं ३५ × १९.५ × ५.५ से० मी० है। इस माप की ईंटों का प्रयोग स्तर-

*उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी कैसरबाग, लखनऊ।

कुषाण कालीन मार्ग—रेखाचित्र, हुलासखेड़ा, लखनऊ

विन्यास की दृष्टि से कुषाण काल के द्वितीय चरण में बहुलता से किया गया है। वेदिका में ईंटों का प्रयोग खड़े व पट दोनों रूपों में किया गया है।

गर्भगृह की लम्बाई ८.५० मीटर और चौड़ाई ४.०० मीटर है। गर्भगृह की पश्चिमी दीवाल और पूर्वी दीवाल की दूरी २.६१ मीटर है। इस प्रकार गर्भगृह का निर्माण वेदिका के लगभग मध्य में किया गया है। ईंटों को जोड़ने के लिये मिट्टी का गारा प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के चारों ओर का खुला भाग प्रदक्षिणा-पथ रहा होगा।

हुलासखेड़ा गांव के अन्दर एक आधुनिक देवालय के गर्भगृह में स्थापित कुषाण कालीन शिवलिंग ऊपर उल्लिखित मन्दिर के ऊपर एक पेड़ के नीचे से उठा कर वहां स्थापित किया गया बताया जाता है। कला की दृष्टि से यह शिवलिंग कुषाण काल में निर्मित जान पड़ता है (चित्र सं० २)।

इस एकमुख शिवलिंग में जटा-जूट-धारी शिव-मुख को एकावली से सुसज्जित दर्शाया गया है। उनके माथे पर समानान्तर नेत्र शोभायमान है। यह शिवलिंग मुख्य मन्दिर में रहा होगा और कालान्तर में मन्दिर के ध्वस्त हो जाने पर शिवलिंग की पूजा की जाती रही होगी जिसके कारण वह यथा-स्थान रखा रहा और आधुनिक समय में उसे गाँव के नवीन मन्दिर में स्थापित कर दिया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्खनन द्वारा प्रकाश में आया कुषाण कालीन देवालय शिव से सम्बन्धित रहा होगा।

हुलासखेड़ा गांव के उत्तर तथा टीले के दक्षिणी छोर पर करेला झील के मध्य पकी हुई मिट्टी की ईंटों से निर्मित एक संरचना प्रकाश में आयी है जिसे ईंटों से निर्मित **मार्ग** के रूप में पहिचाना गया है। इसका प्रयोग संभवतः झील को पार करने के लिये किया जाता रहा होगा।

लगभग २०० मीटर तक उत्खनित हुलासखेड़ा के उपर्युक्त मार्ग का प्रसार दक्षिण दिशा में देखा गया है। इस मार्ग की वास्तु-संरचना उल्लेखनीय है (रेखा चित्र)। इसके निर्माण के लिये परस्पर ९.५० मीटर की दूरी पर लगभग एक मीटर ऊँची दो समानान्तर दीवालें बना कर इनके बीच लगभग ४० से० मी० मोटी एक अन्य प्राचीर का निर्माण करके, छोटी-छोटी दीवारों के माध्यम से इसमें अनेक बक्सनुमा संरचनाएं बनायी गयी हैं जिन्हें मिट्टी आदि भरकर दृढ़ता प्रदान की गयी है, जिससे बाढ़ के जल-प्रवाह से ये कटने न पाये। मार्ग की ऊपरी सतह पर छोटे-छोटे इष्टिका-खण्ड कूट दिये गये हैं। इस प्रकार इस मार्ग को सुदृढ़ किया गया है। मुख्य मार्ग-संरचना के मध्य निर्मित चौकोर बक्सनुमा आकृतियों की माप ४.०५ × २.५ मीटर तथा ३.८० × २.५ मीटर है। इसमें प्रयुक्त ईंटों की मापें ३९ × २४ × ४ से० मी०, ३८ × २० × ५ से० मी० और ४० × २२ × ५ से० मी० हैं। जो कि कुषाण-काल के प्रथम चरण से प्राप्त ईंटों के अनुरूप हैं। अतः इस मार्ग का निर्माण-काल प्रथम शती ई० माना जा सकता है। देखने में यह ईंटें, शताब्दियों पुरानी होने पर भी, सुगढ़ और हाल ही में निर्मित लगती हैं।

मार्ग-निर्माण का द्वितीय चरण कुषाण-काल के बाद का है। संभवतः मूल रूप से निर्मित मार्ग कुछ समय बाद जलमग्न हो गया। अतः प्राचीन मार्ग को कालान्तर में कुषाण-कालीन खण्डित ईंटों से पुर्ननिमित किया गया। इसके निर्माण की विधा पूर्व निर्मित मार्ग-संरचना से भिन्न है। इसमें 'बाक्स-पैटर्न' नहीं अपनाया गया है। ६.८० मीटर चौड़ा यह मार्ग पहले के मार्ग की अपेक्षा टेढ़ा है। कालान्तर में झील का जलस्तर बढ़ जाने के कारण यह मार्ग भी अनुपयोगी हो गया।

हुलासखेड़ा का ईटों से निर्मित उपर्युक्त मार्ग अब तक ज्ञात एकमात्र कुषाण कालीन मार्ग होने के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संदर्भ

१–हर्टल, एच०—**दि एक्सकेवेशन ऐट सोंख**, चि० ३८-३९, नई दिल्ली, १९७६।

२–नौटियाल, के० पी०—रीसेन्ट रिसर्चेज इन इण्डियन आर्कलॉजी एण्ड आर्ट हिस्ट्री, एवीडेन्स ऑफ न्यू कल्चरल एलीमेन्टस इन दि लोअर हिमालयन रीजन ऑफ गढ़वाल : ऐन ऐपरेजल, **मधू**, अगम कला प्रकाशन, दिल्ली, १९८१, पृ० ७१।

सुभाष राय*
जगमोहन शर्मा**

हुलासखेड़ा के शुंग-कुषाण-गुप्तकालीन मसाले का वैज्ञानिक अध्ययन

किसी इमारत अथवा संरचना की इकाइयों यथा ईटों एवं पत्थर को समतल सतह, उचित स्थान और उस पर रखे गये भार को शक्ति प्रदान करने में जोड़ने वाले मसाले (मोर्टार) का महत्वपूर्ण योगदान होता है। मसाले की यह उपयोगिता प्राचीनकाल से ही ज्ञात है। पहले की सभ्यताओं में चूने के मसाले के उपयोग के साक्ष्य मिले हैं। चूने से मसाले की कार्य क्षमता बढ़ाने और उसमें पकड़ बढ़ाने में सहायता मिलती है लेकिन इस प्रकार के मसाले की शक्ति अधिक नहीं होती है।

चूने के मसाले की शक्ति बहुत कम होने के कारण समय-समय पर उसमें विभिन्न अवयवों को मिलाकर शक्तिपूर्ण तथा उपयोगी मसाले बनाये गये। इस प्रकार चूना-सुर्खी, चूना-सीमेन्ट-बालू या चूना-बालू को एक निश्चित अनुपात में पानी में मिलाकर आज का पकड़-युक्त, शक्ति-पूर्ण और समांगी (होमोजिनस) विकसित मसाला बनाया जाता है। इस प्रकार के मसाले बंधुता, शक्तिपकड़ (बाइंडिंग) और लचीलापन (प्लैस्टीसिटी) गुणों से युक्त होने के साथ-साथ आवश्यक तनन (टेन्साइल) और अपरूपण प्रतिबल/सम्पीडन (कम्प्रेसिव) शक्ति से परि-पूर्ण होते हैं जो कि दीवार बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ईंटों से निर्मित संरचना में उत्केन्द्रित भार (इसेन्ट्रिक लोडिंग) से उत्पन्न ताकतें दीवार के एक ओर को तनाव तथा दूसरी ओर को सम्पीडन (कम्प्रेशन) में रखती हैं, इन ताकतों को मसाले की उपर्युक्त शक्तियां सामंज्य एवं स्थायित्व प्रदान करने के अतिरिक्त दीवार के मुख्य भार को सहारा देती हैं।

* प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
** धातुकीय अभियन्त्रिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भवन-निर्माण में मसाले की इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत शोध-निबन्ध में हुलासखेड़ा के उत्खनन से प्रकाश में आये शुँग काल से गुप्त काल तक के आवासों में प्रयुक्त मसाले के वैज्ञानिक अध्ययन का विवरण दिया जा रहा है। हुलासखेड़ा के टीले का उत्खनन उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन द्वार सन् १९७८-७९ ई० से कराया जा रहा है। ज्ञातव्य है कि अन्य स्थलों के साक्ष्यों के अनुरूप ही यहां की ऐतिहासिक कालों से सम्बन्धित ईंटों का आकार क्रमशः छोटा होता चला गया है। ईंटों के आकार में यह परिवर्तन किन तकनीकी उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर किया गया, इस सम्बन्ध में अभी कोई ठोस आधार ज्ञात नहीं है। ईंटों से निर्मित भवन-संरचना के विकास के तकनीकी इतिहास को जानने के लिए ऐतिहासिक काल से आज तक प्रचलित तकनीकों के हर पहलू का समन्वित अध्ययन करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में एक लघु प्रयास है। यह अध्ययन हुलासखेड़ा के विभिन्न कालों में प्रयुक्त मसाले में मौजूद चूने की मात्रा तथा उनके "एक्स रे" और "इन्फारेड स्कोपी" के आंकड़ों पर आधारित है।

वैज्ञानिक परीक्षण और परिणाम

शुँग काल के मसाले में चूने की मात्रा १७ प्रतिशत है। इसमें खनिजों के रूप में "इल्लाइट", "मस्कोवाइट", "मान्टमॉस्लिोनाइट", "जिव्बसाइट", "क्वार्टज", "टॉबरमोराइट", "काओलिनाइट", "डायास्पोर" और "हेमेटाइट" पाये गये। इन्फारेड विश्लेषण का चरम ६३०, ७००, ८००, १३००, १४००, ३०००, ३७०२ Cm^{-1} द्वारा इसमें Cao / Sio_2 / Mgo; Mgo / Sio_2 / Mgo / Na_2o / Sio_2 अवयवों के पाये जाने की सूचना मिलती है।

कुषाण काल के मसाले में चूने की मात्रा १८ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त इसमें क्वार्टज, मस्कोवाइट, इल्लाइट, केल्सीनाइट, हेमाटाइट, और डायास्पोर खनिज उपस्थित पाये गये है। इन्फारेड स्पेक्ट्रम के चरम ६३०, ७००, ८००, १३००, १४००, १८००, और ३००० Cm^{-1} हैं जो कि क्रमशः इसमें Al_2o_3, 3 Cao, Mgo / Cao / Sio_2 / Cao / Mgo/Sio_2 अवयवों की उपस्थित के सूचक हैं।

गुप्त काल I के मसाले में चूने की मात्रा १२ प्रतिशत है तथा इसमें इल्लाइट, मस्कोवाइट, कैल्साइट, जिव्बसाइट, ग्लूकोसाइट, क्वांटज, आस्थाकलेस, हाई एल्बाइट, वाल्लेस्टोनाइट, हेमाटाइट और डाइस्पोर खनिज मुख्य रूप से मौजूद हैं। इन्फारेड स्पेक्ट्रम के चरम ४००, ५७०, ६३०, ६९७, ७००, ८००, १३००, १४००, १८००, २५०० तथा ३००० तरंग दूरी पर हैं के अनुसार इसमें Al_2u_3/Cao, Sio_2/Cao/Mgo यथा Cao/Mgo अवयवों की उपस्थिति की सूचना मिलती है।

गुप्त काल II के मसाले के नमूने में १३ प्रतिशत चूना पाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें क्वार्टज, इल्लाइट, डायास्पोर, काओलिनाइट और हेमेटाइट भी उपस्थित मिले हैं।

इन्फ्रारेड के चरम २००, ४००, ४४०, ६३०, ६७२, ७००, ८००, १३००, १४००, १४८०, १५००, २५००, ३००० और ३७०२ Cm^{-1} के तरंग दूरी पर हैं से गारे में $Al_2o_3/3$ Cao $Mgo/Na_2o/Sio_2/Mgo/Sio_2$, Cao/Sio_2, Mgo/K_2o अवयवों की उपस्थिति की सूचना मिलती है।

गुप्त काल III के बारे में चूने की मात्रा १३ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त इसमें उच्च एल्बाइट, वोलासटोनाइट, काओलिनाइट, मस्कोवाइट, ऐन्टीगोराइट, इल्लाइट, ऑर्थोक्लेस तथा हैमाटाइट खनिज भी पाये गये हैं। इन्फ़ारेड के चरमों—३००, ५५०, ६३०, ७००, ८२०, १३००, १४००, १८००, २४०० Cm^{-1} तरंग दूरी पर है से $Cao/Al_2o_3/Sio_2$ तथा Mgo/ Cao/Sio_2 अययवों की उपस्थिति की सूचना मिलती है।

समावलोकन

उपर्युवत अध्ययन से सुस्पष्ट है कि शुंग काल से गुप्त काल तक चूनायुक्त मिट्टी का प्रयोग मसाले के रूप में किया जाता रहा। चूने का उपयोग जान बूझ कर किया गया अथवा प्राकृतिक रूप में मिट्टी में मिला होने के कारण यह कहना कठिन है। सम्भव है कि तत्कालीन मानव चूने के लचीलेपन और जोड़ने के गुणों से परिचित रहे हों। मसाले में चूने की अधिकता उसकी शक्ति को बढ़ाती है लेकिन प्रयुक्त माध्यम के लिए हानिकारक भी सिद्ध होता है। यही कारण है कि गुप्तकाल के स्थापितों ने मसाले के अन्दर चूने की मात्रा कुषाण एवं शुंग काल की अपेक्षा कम ही रखी और उसमें दूसरे स्रोत से खनिज मिलाया जिसने उसमें अधिक मात्रा में कैल्शियम, सिलीकेट और एलुमुनेट हाइड्रेसन पदार्थ बनने में मदद कर मसाले की शक्ति व क्षमता को बढ़ाया।

"वेन्टर और आर्नन १९८४" के अनुसार गुप्तकाल में इस प्रकार से प्रयुक्त मसालों में अपेक्षाकृत सिकुड़न व सख्त होने का समय कम हो गया तथा उनकी कार्य क्षमता, पकड़, लचीलेपन तथा शक्ति में वृद्धि हुई।

इन तथ्यों के आधार पर अब इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि क्या ईंट की माप और मसाले की विशेषताओं में कोई सीधा सम्बन्ध है जो दीवार की मजबूती पर असर डालता है। वैसे तो इस दिशा में कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं है लेकिन फोस्वर-१९६५ के अध्ययन से पता चलता है कि मसाले के स्तर और संरचना की हर इकाई की ताकत का असर दीवार की ताकत को प्रभावित करता है तथा दीवार की ताकत हर इकाई की ताकत के सीधे अनुपात में न बढ़कर हर ईंट की शक्ति के सीधे अनुपात में बढ़ती है। इसके अलावा दीवार की तनन-शक्ति को हर इकाईयों के बीच का जोड़ तथा मसाले की विशेषता दोनों ही प्रभावित करती हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तकाल मे अपेक्षाकृत अच्छे स्तर के मसाले से तत्कालीन संरचनाओं की दीवालों को मजबूती प्रदान की गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मसाले की ताकत ने इन ऐतिहासिक काल की ईंटों की माप को जरूर प्रभावित किया। जैसा पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि कुषाण तथा शुंग काल के मसाले में केवल कार्य-शक्ति ही थी अगर इस युग में बड़ी-बड़ी ईंटों का प्रयोग न हुआ होता तो संरचना कम शक्ति वाले मसाले के प्रयोग के कारण कमजोर हो गई होती।

अगर भविष्य में इस ऐतिहासिक स्थल से प्राप्त ईंटों, मसाले तथा जोड़ने की प्रक्रियाओं पर अध्ययन किया जाये तो इस समस्या का समाधान हो सकेगा।

सन्दर्भ

वेन्टर आरनन और ग्रीन वर्ग टमारा—१९८४, **माडीफिकेशन आफ सीमेन्टिंग प्रापर्टीज आफ आयरन सेल;** ऐश, **अमे० सिर० सो० बु०,** वालूम ६३ खण्ड २, पृष्ठ २९०; फोस्टर एस० जे०, १९६५, **एडवांस बिल्डिग कान्सट्रक्शन** पृष्ठ १११ व १९९; मुल्लिगन जान ए०, १९६३, **हैन्डबुक आफ ब्रिक मैसोनरी कान्सट्रक्सन,** मक ग्रा० हिल्स बुक कं० पृष्ठ ८९-१३९।

आभार

इस अध्ययन हेतु मसाले का नमूना देने के लिये हम लोग उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन के अधिकारियों के प्रति आभारी तथा श्री राकेश तिवारी, के बहुमूल्य सुझावों के लिये ऋणी हैं।

संक्षिप्त लेख

वाराहारूढ़ा वाराही : अल्मोड़ा

श्यामानन्द उपाध्याय

राज्य संग्रहालय, लखनऊ

वाराही की गणना सप्तमातृकाओं में की जाती है। सामान्यतः वाराही को वैष्णव शक्ति का प्रतीक माना जाता है। **मत्स्य पुराण**[1] में उल्लिखित दो सौ देवियों की सूची में भी वाराही को सम्मिलित किया गया है। इस देवी को लोकों का उपकार करने वाली तथा समस्त व्याधियों को दूर करने वाली कहा गया है।[2] वाराही की उत्पत्ति-सम्बन्धी अनेक कथाएं विभिन्न पुराणों में उल्लिखित है। **मार्कण्डेय पुराण के दुर्गा सप्तशती** अंश से ज्ञात होता है कि वाराही देवी की उत्पत्ति का सम्वन्ध रक्तबीज और शुम्भ-निशुम्भ-वध से सम्बद्ध है। **वाराह पुराण** के अनुसार वाराही देवी की उत्पत्ति का सम्बन्ध अन्धकासुर-वध से है। **मत्स्य महापुराण** में ऐसा उल्लेख है कि अवन्ती प्रान्त में महाकाल नामक वन है। वहीं पर अन्धक नामक असुर से भगवान शिव का घोर युद्ध हुआ था। शिव के उग्र पाशुपत नामक अस्त्र का प्रयोग करने पर अन्धक का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया किन्तु उसके शरीर से जो रक्तपात हुआ, उससे सहस्रों की संख्या में अन्धकों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार बढ़ते हुए उस मायावी अन्धक को देखकर भगवान शंकर ने उसके रक्त का पान करने के लिए अनेक माताओं की सृष्टि की जो संख्या में बहुत थीं। इन माताओं की सूची में वाराही का भी नाम आता है।[3] इस प्रकार वाराही की उत्पत्ति शिव द्वारा की गयी।

रूपमंडन,[4] **देवी पुराण,**[5] **अपराजितपृच्छा**[6] आदि ग्रन्थों में महिष पर आरूढ़ वाराही-मूर्ति का उल्लेख मिलता है, तद्नुसार अधिकांश प्रतिमाओं में वाराही को महिष पर आरूढ़ दर्शाया गया है। ऐसी बहुसंख्यक प्रतिमाएं विभिन्न क्षेत्रों से प्रकाश में आयी हैं। **देवी भागवत पुराण**[7] में प्रेतासना वाराही का भी उल्लेख मिलता है, ऐसी प्रतिमाएं विभिन्न संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। इनके अतिरिक्त शामलाजी[8] (गुजरात) और आम्झर[9] (राजस्थान) आदि स्थलों

से बड़ौदा विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग द्वारा ऐसी वाराही-प्रतिमाएं प्रकाश में लायी गयी जिनमें देवी का वाहन शूकर वाराह दर्शाया गया है। हरे परेवा पत्थर से निर्मित ये प्रतिमाएं लगभग ५-६ ठीं शती ई० की मानी गयी हैं। स्पष्टतः राजस्थान और गुजरात में इस काल में वाराहारूढ़ वाराही का मातृका रूप में पूजन विकसित हो गया था। अन्य क्षेत्रों में इतनी प्राचीन वाराही-प्रतिमाएं नहीं पायी जाती हैं। अपेक्षाकृत इनसे बाद में निर्मित ऐसी प्रतिमाएं उड़ीसा[१०] से भी प्रकाश में आयी हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भ में अल्मोड़ा जनपद (उत्तर प्रदेश) से प्रकाश में आयी वाराहारूढ़ा वाराही की प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है (चि० सं० ८)। राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संग्रहीत काले सिलेटी पत्थर से निर्मित यह प्रतिमा (संख्या ६५। १७३.४) २६.५ × १९.५ से० मी० माप की है। अपने वाहन वाराह पर ललितासन में विराजमान वाराहमुखी चतुर्भुजी देवी अपने ऊर्ध्व वाम-हस्त में शंख धारण किये हैं, दाहिना ऊर्ध्व हस्त खंडित है। वे अपने वाम अधः हाथ में चक्र लिये तथा दूसरे दाहिने हाथ को मुड़े हुए पाद के घुटने पर रखे हुए हैं। वाराही के मुख से निकला दन्त तथा नासिका-रंध्र द्रष्टव्य है। प्रायः वाराही के साथ वाहन-रूप में प्रदर्शित वाराह के नासिका रंध्र स्पष्ट नहीं दर्शाये जाते हैं। अतः प्रश्नगत प्रतिमा में ऐसा प्रदर्शन उल्लेखनीय है। कण्ठमाल एवं अन्य आभूषणों से सुसज्जित वाराही देवी के कण्ठ में तीन रेखाओं का प्रदर्शन किया गया है। लगभग ९-१० वीं शती ई० में निर्मित कत्यूरी--कला की यह प्रतिमा उत्तर प्रदेश की वाराही-प्रतिमाओं में अपना विशेष महत्व रखती है, इस तरह की अन्य कोई प्रतिमा अब तक यहाँ से ज्ञात नहीं है। इस प्रतिमा की प्राप्ति से उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्र में वाराहारूढ़ा वाराही के अंकन की परम्परा का ज्ञान होता है जो कि इस क्षेत्र पर पश्चिमी भारत की कला के प्रभाव की द्योतक है।

सन्दर्भ

१. अग्रवाल, वी० एस० **मत्स्य पुराण ए स्टडी**, अध्याय १७९, पृ० २७६.

२. गदा चक्रगदाः धराः तद्वृद्धानवेन्द्र विघातिनी ।
लोकानाञ्च हितार्थाय सर्वव्याधि विनाशिनी ॥
रूपमण्डनम् ५॥६८॥

३. त्रिपाठी, राम प्रसाद (अनुवादक)-**मत्स्य पुराण**, सम्वत् २००३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, अध्याय ११९, पृ० ५०९.

४. वाराही तु प्रवक्ष्यामि महिषोपरिसंस्थिताम् ।
वाराह (वराह) सदृशी घण्टानादा चामरधारिणी ॥
रूपमण्डनम् ५॥६७॥

५. वैवस्वती प्रकर्तव्या दुर्द्धरा महिषोपरि ।
सूकरास्या कपालेऽसृक पिबन्ती दण्डधारिणी ॥
देवीपुराण

६. अक्षसूत्रं च खण्ड्गश्च घण्टा चैवकमण्डलुः ।
महिषा स्था शूकरास्या वाराही सर्वकामदा ॥
अपराजित पृच्छा २२३, पृ० ५७५ (१६)

७. **देवी भागवत पुराण**, स्कन्ध ५, अध्याय २८, श्लोक २४
वाराही शूकरास्या प्रौढ़प्रेतासनामता

८. शाह, उमाकान्त—**बुलेटिन ऑफ बड़ौदा म्यूजियम एण्ड पिक्चर गैलरी**, बड़ौदा अंक १३, चित्र सं० ३६ पृ० ५५

९. अग्रवाल, आर० सी०—**भारती**, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल स्मृति अंक, वर्ष १२-१४ (१९६८-७१), पृ० १३४-३५, चित्र फलक ५.
आर्टस आजियाटिक, पेरिस, १२ (१९५६) चित्र ३ व ४, पृ० १८०

१०. दास, एच० सी०—**तान्त्रिजम ए स्टडी ऑफ दि योगिनी कल्ट**, दिल्ली, १९८१, चित्र फलक ११, १५.

कुमाऊँ क्षेत्र की नवअन्वेषित कामदेव प्रतिमा

वीरेन्द्र कुमार तिवारी

उप निदेशक, उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ,

हेमराज

क्षेत्रीय पुरातत्व अधिकारी, अल्मोड़ा,

क्षेत्रीय पुरातत्व इकाई, अल्मोड़ा द्वारा वित्तीय वर्ष १९८४-८५ में अल्मोड़ा जनपद की कत्यूर घाटी में चलाये गये समस्या प्रधान सर्वेक्षण अभियान के दौरान, बैजनाथ से लगभग २ कि० मी० दक्षिण-पूर्व में, गरुड़ गंगा के बाँयें तट पर अवस्थित गड़सेरा ग्राम से कामदेव (प्रद्युम्न, मन्मथ) की एक सुन्दर प्रतिमा प्रकाश में आयी है, जो कुमाऊँ क्षेत्र की एक अति महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

५८ × ३८ से० मी० आकार में भूरे रंग के बलुए प्रस्तर से निर्मित यह प्रतिमा अपने में अनेक विशिष्टताएं संजोये हुए है। इस प्रतिमा में कामदेव उच्च कमलासन पर, अर्धपर्यंक मुद्रा में बैठे हुए हैं। प्रीति एवं रति उनकी दोनों पत्नियाँ उनके दोनों पार्श्वों में त्रिभंग मुद्रा में उत्कीर्ण हैं। चर्तुभुज कामदेव प्रतिमा के ऊपरी दांये हाथ में पुष्प, नीचे के दाँये हाथ में वाण, ऊपरी बांये हाथ में मकरध्वज और नीचे के बांये हाथ में धनुष है। प्रतिमा के मस्तक पर रत्न जटित किरीट मुकुट, कानों में मकर-कुण्डल, गले में ग्रेवेयक, भुजाओं में केयूर और कंगन, कमर में रत्नजटित कमरबन्द और पैरों में नूपुर सज्जित हैं। कामदेव के पार्श्व में दायीं और अंकुशयुक्त आयुध और सिर के ऊपर कदली-पत्रों से चित्रित क्षत्र का अंकन है। पादपीठ के नीचे बाँयी ओर कदाचित् बैठे हुए अश्व का अंकन है। मूर्तिकला की दृष्टि से इसे लगभग १० वीं शती का माना जा सकता है (चित्र सं० ९)।

इस प्रतिमा के आकार-प्रकार एवं अंकन को देखने से प्रतीत होता है कि यह कामदेव के मंदिर की मुख्य प्रतिमा रही होगी। इस स्थल पर कुछ अन्य भग्न देवालयों के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं अतः सम्भावना है कि यहाँ पर कामदेव का एक स्वतंत्र मन्दिर रहा होगा। इस प्रकार न केवल पर्वतीय क्षेत्र बल्कि उ० प्र० में पाया जाने वाला यह कामदेव का प्रथम मन्दिर होगा।

मोहारी कला के नृत्य गणपति

ओम दत्त शुक्ल

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, खजुराहो, मध्यप्रदेश ।

नृत्य गणपति-मूर्तियों का निर्माण पूर्व गुप्तकाल से मिलने लगता है । इस काल की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में दर्शनीय है । मध्य काल में इनका प्रचलन सभी क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रिय हो गया । इस काल की अनेकानेक प्रतिमांए दक्षिण भारत, उत्तरी भारत और हिमालय क्षेत्र में पायी गयी हैं । इनमें गणपति को द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, द्वादशभुज और षोडशभुज दर्शाया गया है । अष्टभुज नृत्य-गणपति के हाथों में शास्त्रानुसार पाश, अंकुश, मोदक, कुठार, दन्त, वलय तथा अंगुलीय का उल्लेख मिलता है । आठवां हाथ नृत्य-मुद्रा में होना चाहिए ।[1]

हाल ही में लखनऊ जनपद की मोहनलाल गंज तहसील के अन्तर्गत, तहसील मुख्यालय से लगभग ११ कि० मी० उत्तर-पूर्व में मोहरी कलां नामक ग्राम से नृत्य गणपति की एक प्रतिमा प्रकाश में आयी है । यह प्रतिमा गांव के पश्चिम में स्थित अत्यन्त जीर्ण मन्दिर के गर्भगृह की पश्चिमी दीवार में स्थापित है । मन्दिर का निर्माण लगभग १०० वर्ष पूर्व कराया गया लगता है जबकि प्रतिमा प्राचीन है । लाल बलुए पत्थर से निर्मित यह प्रतिमा किसी अन्य स्थान से ला कर यहां रखी गयी है । १० से० मी० ऊँची पीठिका पर स्थापित इस प्रतिमा की ऊँचाई ७० से० मी० और चोड़ाई ४५ से० मी० है । लम्बोदर, एक दन्त, गजमुख विनायक सिरोभूषा, कण्ठहार, बाजूबन्ध, कङ्कण तथा नूपुर से अलंकृत हैं । उनके मस्तक पर जूड़े जैसा जटाजूट तथा बाएं स्कन्ध पर यज्ञोपवीत शोभायमान है । अतिभंग-मुद्रा में नृत्यरत दशभुज गणपति का निचला दांया हाथ नृत्य-मुद्रा में, दूसरा दायां हाथ परशुधारी और तीसरे हाथ में स्वदन्त है । चौथे हाथ का आयुध अस्पष्ट है । पांचवें और छठें हाथों में नागपाश शोभित किया गया है किन्तु छठां हाथ भग्न हो गया है । दूसरे बाएं हाथ में मोदक-पात्र प्रदर्शित है । तीसरा बायां हाथ भग्न और चौथा नृत्य मुद्रा में दर्शाया गया है । गणपति के निचले पार्श्वों में **नृत्यरत** मृदंग-वादक, ढोल वादक, नर्तक और अनुचरी का प्रदर्शन किया गया

है। इस प्रतिमा में गणपति के साथ प्रदर्शित किये जाने वाले उनके वाहन मूसक का अभाव द्रष्टव्य है। नृत्य गणपति की अधिकांश प्रतिमाओं में एक हाथ कट्यावलम्बित दर्शाने की परम्परा रही है लेकिन इस प्रतिमा में यह लक्षण नहीं दिखता है। शैली के अनुसार यह प्रतिमा लगभग नवीं शती ई० में निर्मित प्रतीत होती है।

सन्दर्भ

१. अवस्थी, रामाश्रय—**खजुराहो की देव प्रतिमाएं**, ओरिएण्टल पब्लिशिंग हाउस, आगरा २, प्रथम संस्करण, १९६७, पृ० ४१

गढ़वाल के दो नवज्ञात वलभी मन्दिर

बुद्धि प्रकाश बड़ोनी

गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, पौड़ी गढ़वाल

नागर तथा फांसणा शैली के शिखरयुक्त मन्दिरों की अपेक्षा गढ़वाल में वलभी शैली अथवा गजपृष्ठाकृति शिखरयुक्त मन्दिरों की संख्या बहुत कम है। इस तरह के मन्दिर अब तक गढ़वाल में गोपेश्वर, नारायण कोटि, बजिगा, जोशीमठ तथा मद-महेश्वर से प्रकाश में आये हैं। हाल के सर्वेक्षणों में ऐसे दो अन्य मन्दिरों का पता चला है जिनसे न केवल गढ़वाल में ऐसे ज्ञात मन्दिरों की संख्या में वृद्धि हुई है वरन् इनकी वास्तुकला के अध्ययन के नये आयाम भी स्पष्ट हुए हैं। ये मन्दिर चमोली जनपद में अत्रि मुनि-आश्रम और पौड़ी गढ़वाल जिलान्तर्गत घंडियाल धार नामक स्थान पर स्थित हैं।

अत्रि मुनि-आश्रम अथवा **अत्रि मुनि-मन्दिर** चमोली जनपद के मुख्यालय गोपेश्वर से लगभग १५ कि० मी० उत्तर-पश्चिम में मोटर मार्ग पर स्थित मण्डल नामक स्थान से ४ कि० मी० उत्तर स्थित अनुसूया देवी नामक प्रसिद्ध तीर्थ से १ कि० मी० दूर है। यहां अत्रि मुनि-आश्रम के नाम से सुख्यात एक बड़ी गुफा है, जिसमें कभी-कभी साधु-सन्त निवास करते हैं। गुफा के निकट रुद्रनाथ से आने वाली अमृत गंगा एक मनोहारी झरने के रूप में अमृत-कुण्ड में गिरती है। कुण्ड के दायीं ओर गुफा के प्रांगण में वलभी शैली का एक प्रस्तर-निर्मित मन्दिर है।

मन्दिर तलछन्द-योजना की दृष्टि से गर्भगृह युक्त है। आयताकार गर्भगृह की माप ०.९५ × १.२९ मीटर है। इसकी ऊर्ध्वछन्द योजना में सादा वेदीबन्ध, सादा जंघा-भाग तथा गजपृष्ठाकृति शिखर निर्मित है, इनकी ऊँचाई क्रमशः २२ से० मी०, ८३ से० मी० और १.०८ मीटर है। शिखर-शीर्ष पर मध्य में आमलसारिका सुशोभित है।

मन्दिर का पूर्वाभिमुख प्रवेशद्वार सादा है। गर्भगृह में त्रिशिख कार्तिकेय की खण्डित प्रस्तर-प्रतिमा पड़ी हुई है। इस मन्दिर को ९ वीं शती ई० में निर्मित माना जा सकता है।

वलभी शैली का दूसरा मन्दिर पौड़ी गढ़वाल जनपद में पौड़ी-थली सैंण मोटर-मार्ग पर नौठा से ४ कि० मी० उत्तर-पूर्व में **घण्डियाल धार** नामक स्थान से प्रकाश में आया है। यहां घण्डियाण नामक एक मन्दिर है। यह स्थान प्राचीन कोटद्वार-बद्रीनाथ यात्रा-मार्ग पर स्थित है। इस मन्दिर की तलछन्द योजना आयताकार है। इसके गर्भगृह की बाहरी माप ४.१५ × ३.१५ मीटर और अन्दर की माप २.७८ × १ मीटर तथा अन्तराल की माप १.५१ × ०.३१ मीटर है। मन्दिर में बाद में जोड़ा गया मण्डप ४.४२ × ५.१० मीटर माप का है।

मन्दिर की ऊर्ध्वछन्द योजना में परम्परागत गढ़नों से निर्मित वेदीबन्ध के कलश और कपोत लघु-चन्द्रशालाओं से सुसज्जित हैं। वेदीबन्ध के ऊपर भद्र एवं कर्ण पर बनी उद्गमयुक्त रथिकाओं से सज्जित जंघा-भाग और उसके ऊपर वलभी शैली का शिखर शोभायमान है जिसके पार्श्व चन्द्रशालाओं से अलंकृत हैं। चन्द्रशालाओं में गणेश, लकुलीश और नरसिंह आदि प्रदर्शित हैं। दक्षिणमुखी मन्दिर के गर्भगृह में एक भग्न पीठिका रखी है जिससे स्पष्ट है कि यह मन्दिर शिव से सम्बन्धित है। वास्तु-योजना और शिल्प के अनुसार इसे लगभग १०वीं शती ई० में निर्मित माना जा सकता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की दुर्लभ मुद्रा

इन्दु प्रकाश पाण्डेय

प्रा० स०, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

गुप्त सिक्के भारतीय मुद्रा इतिहास की गौरवमयी निधियां हैं। उनमें तकनीक, सौन्दर्य-बोध, चित्र—वैविध्य एवं भारतीयता का अनुपम संगम है। पूर्व युग की मुद्रा-परम्परा से हटते हुए उन्होंने मुद्राकला को अनेक नये आयाम दिये। प्रथम चन्द्रगुप्त से लेकर पुरुगुप्त तक शायद ही ऐसा कोई शासक हुआ हो जिसने किसी नवीन मुद्रा की प्रतिष्ठा न की हो।

जिस सिक्के का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है वह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय की आठ स्वर्ण-मुद्रा–प्रकारों में से एक है। सिंहनिहंता प्रकार की इस विशेष[1] मुद्रा में उसे सिंह को तलवार से मारते दिखाया गया है जबकि इसी प्रकार की अन्य मुद्राओं में सामान्यतः उसे धनुषबांण से बींधते या लड़ते चित्रित किया जाता है। अभी तक प्राप्त गुप्त सिक्कों की जानकारी में यह एकमात्र मुद्रा है[2] जो राज्य संग्रहालय, लखनऊ के मुद्रा-संकलन की श्रीवृद्धि कर रही है। यह सिक्का संग्रहालय को १९१० में मिर्जापुर जिले के टिक्रीडेब्रा नामक ग्राम से चालीस गुप्त स्वर्ण-सिक्कों की निधि में प्राप्त हुआ था[3] (चित्र सं० १०, ११)। सिक्के का वर्णन निम्नवत् है:—

अग्रभाग

सिक्के के बांयी ओर राजा दाहिने हाथ में तलवार उठाये, बांये ओर आत्मरक्षा के लिए, क्रोध से मुंह फैलाये हुए लौटते सिंह पर वार करने को उद्यत चित्रित है। सिंह के गर्दन के बाल उसके केसरी रूप को स्पष्ट प्रदर्शित कर रहें हैं। उसका बांया पैर और हाथ सिंह की पीठ पर उसे दबोचते हुए दिखाया गया है। भयानक सिंह प्रत्याक्रमण में अपने पिछले पैरों पर खड़ा हो गया है। गत्यात्मकता के कारण राजा का दुपट्टा कमर से लहरा गया है। राजा ने ऊपरी वस्त्र के रूप में एक चुस्त बनियान पहन रखी है तथा नीचे के वस्त्र रूप में धोती ऐसा वस्त्र पहन रखा है। कानों में कुण्डल तथा गले में हार भी द्रष्टव्य है। विशेष बात

जो देखने में आती है, वह है उसका मुंडित सिर। ऐसा लगता है कि उसने विग ऐसी कोई चीज पहन रखी है, शिरस्त्राण के रूप में। विग पर गरुड़ बना है जो उसका राजांक था।

अधूरा लेख, जो घड़ी की सुई के क्रम में १ बजे से प्रारम्भ होता है:—

न रे न च न्द प्र थ त र

इस प्रकार के सिक्कों पर जो पूर्ण लेख प्राप्त होता है वह है—नरेन्द्रचन्द्र : प्रथितरणो रणे जयत्यजयो भुवि सिंह विक्रमः (राजाओं मे चन्द्रमा, जो युद्ध में कौशल के लिए प्रसिद्ध है, जो अजेय है, सिंह की तरह शक्तिशाली है)।

पृष्ठ भाग

सिंहासीन प्रभामण्डला देवी उकड़ू बैठी चित्रित हैं जिसके दायें हाथ में पाश और बांया हाथ सनाल कमल युक्त है। देवी केयूर, कंकण, हार, कर्णफूल, कटिमेखला धारण किये हैं। उरोज उन्नत हैं तथा उत्तरीय दोनों कन्धों पर होता हुआ लहरा रहा है। अधोवस्त्र के रूप में वे साड़ी पहने हैं। देवी के दायें हाथ की ओर ऊपर विशेष चिन्ह द्रष्टव्य है। बांये हाथ की ओर लेख २ बजे से प्रारम्भ होता है—

स ह व क्र मः
(सिंह विक्रमः)
सिक्के का भार : १२१.२ ग्राम

व्यासः ८ इंच

सिंह का धनुष-बांण से वध करते हुए इस राजा के विविध सिक्के उपलब्ध हैं परन्तु इस प्रकार का मात्र यही सिक्का मिलना उसके विषय में अनुमानों को जन्म देता है। हो सकता है कि यह सिक्के अभी किसी और निधि में छिपे हों जो अभी तक भूगर्भ में ही समायी हुई है या किसी कारणवश अत्यल्प मात्रा में उनका प्रचलन हो पाया था। पर इसके निर्माण के कारण में, यह अद्वितीय सिक्का इस बात की ओर संकेत करता है कि यह राजा के अपराजेय विक्रम को प्रकाशित करने के लिए था, क्योंकि धनुष-बांण से सिंह का वध उतना जोखिम भरा नहीं है जितना कि सिंह को तलवार से मारना। धनुष-बांण से शिकार दूर से किया जा सकता है, पर तलवार से तो उससे आमने-सामने ही भिड़ना पड़ेगा जो कि अदम्य पौरुष वाला व्यक्ति ही कर सकता है। इस प्रकार यह एक ही सिक्का उसकी विक्रमादित्य उपाधि की सार्थकता का साक्षात् प्रतीक है।

सन्दर्भ

१. जॉन एलन—**कैटलाग आफ द इण्डियन क्वाइन्स इन ब्रिटिश म्यूजियम**, जी० डी०, लन्दन, १९१४, पृष्ठ ८२, फलक, ९, १३

२. संग्रहालय संख्या ३१५९

३. बर्न आर०—**न्यूमिसमेटिक क्रॉनिकल**, लन्दन, १९१०, पृ० ३९८

४. अल्टेकर ए० एस०—**गुप्तकालीन मुद्रायें**, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, १९५४, पृ० ७५

पद्मावती का गणपति नाग

डा० ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव

रजिस्ट्रीकरण अधिकारी, झांसी

समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तंभ-लेख में आर्यावर्त्त के राजाओं के सन्दर्भ में रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन और बलवर्मन का उल्लेख प्राप्त होता है,[1] जिनको उसने अपनी विजय के दौरान पदाक्रांत किया था। इनमें गणपति नाग की पहचान पद्मावती और उसके आसपास बुन्देलखण्ड[2] से प्राप्त होने वाले उन के नाम सिक्कों से की जाती है जिनके पुरोभाग पर बायें को चलता हुआ नन्दी है और पृष्ठ-भाग पर ब्राह्मी लिपि में "महाराज श्री गनपतीन्द्र", "महाराज श्री गनपेन्द्र", "महाराज श्री गनेन्द्र", "महाराज श्री गनपति" और "महाराज श्री ग" प्राप्त होता है।[3] उल्लेख्य है कि गणपति नाग को उक्त अभि-लेख में केवल गणपति नाग ही कहा गया है जबकि उसके सिक्कों पर उसके लिये "महाराज" उपाधि का प्रयोग किया गया है। चूंकि समुद्रगुप्त ने उस पर विजय प्राप्त की थी, अतः उसकी उपाधियों का उल्लेख न करना स्वाभाविक ही जान पड़ता है।

समुद्रगुप्त के उक्त स्तंभ-लेख में गणपति नाग के साथ-साथ नागदत्त और नागसेन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। सम्भवतः इन दोनों राजाओं के नाम में 'नाग' शब्द प्रयुक्त होने के कारण ही विद्वानों ने इन्हें नागशासक कहा है।[4] जबकि इनके नामों में गणपति नाग की तरह नाग उपाधि न होकर प्रमुख नाम ही प्रतीत होता है। क्योंकि इनमें इसका प्रयोग प्रारम्भ में ही किया गया है। इनमें नागदत्त के स्थान के बारे में अन्य किसी उल्लेख के अभाव में अभी तक तो पता नहीं लग सका है परन्तु हर्षचरित के आधार पर डा० एच० वी० त्रिवेदी ने नागसेन को पद्मावती का शासक कहा है[5] जो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सन्दर्भ में गणपतिनाग और नागसेन साथ-साथ हैं और एक ही समय में एक राज्य (पद्मावती) में दो शासकों का होना संभव नहीं है।

हर्षचरित के उल्लेख जिसमें नागसेन की मृत्यु पद्मावती में हुई है, के आधार पर डा० डी० सी० सरकार ने कहा है कि यदि नागसेन और गणपति नाग दोनों पद्मावती के हैं तो

इलाहाबाद स्तंभ-लेख को समुद्रगुप्त के एक से अधिक युद्धाभियानों का वर्णन करना चाहिये ।[5] अब प्रश्न तो यह उठता है कि क्या मृत्यु-स्थान ही किसी राजा के राज्य का निश्चित प्रमाण है ? और यदि समुद्रगुप्त का अभिलेख उसके एक से अधिक अभियानों का वर्णन करे तो क्या गणपति नाग और नागसेन दोनों एक साथ और एक समय में पद्मावती के शासक हो सकते हैं ?

जहाँ तक इलाहाबाद स्तंभ-लेख में समुद्रगुप्त के युद्धों का प्रश्न है, उक्त अभिलेख की तेरहवीं पंक्ति में अच्युत नागसेन और गणपति नाग के साथ उसके युद्ध का वर्णन किया गया है।[7] पुनः उसी अभिलेख की इक्कीसवीं पंक्ति में भी दक्षिणापथ की विजय के बाद आर्यावर्त्त के राजाओं के प्रसंग में गणपति नाग, नागसेन और अच्युत का उल्लेख किया गया है जिससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त का गणपति नाग और नागसेन के साथ दो बार युद्ध हुआ था और दोनों युद्धों में गणपति नाग और नागसेन उसके विरुद्ध लड़े थे और दोनों समकालीन थे। यदि दूसरे युद्ध के राजाओं की सूची पर भी विचार करें तो देखते हैं कि उसमें'……गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्मन आदि अनेक आर्यावर्त्त' का प्रयोग किया गया है जिससे स्पष्ट है कि इसमें केवल प्रमुख राजाओं का ही उल्लेख किया गया है और छोटे-छोटे राजाओं के लिए "आदि, अनेक" शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे पता चलता है कि गणपति नाग और नागसेन दोनों की स्थिति काफी अच्छी थी और दोनों स्वतन्त्र शासक थे। अभी तक ऐसा कोई सिक्का अथवा अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है जिसके आधार पर उन्हें संयुक्त शासक घोषित किया जा सके। ऐसी स्थिति में गणपति नाग के साथ-साथ नागसेन को भी पद्मावती का शासक नहीं माना जा सकता। अतः हर्षचरित का आधार छोड़कर नागसेन के स्थान के बारे में स्वतन्त्र रूप से शोध करना आवश्यक प्रतीत होता है।

सन्दर्भ

१. रुद्रदेव मतिल नागदत्त चन्द्रवर्म्मगणपतिनाग नागसेनाच्युत नन्दिबलवर्म्माधने कार्य्यावर्त्त,
— फ्लीट, जे० एफ० : **भारतीय अभिलेख संग्रह** पृ० ९

२. त्रिवेदी, एच० वी०, — **कैटलाग आफ द नाग किंग्स आफ पद्मावती**
पृ० इन्ट्रोडक्शन XXXVIII–XXXIX

कनिंघम, ए० : **क्वायंस आफ मेडिवल इण्डिया**, पृ०—२२

३. तदेव, पृ० ४९–५४

४. त्रिवेदी, एच० वी० : **कैटलाग आफ द नाग किंग्स आफ पद्मावती,**
पृ० इन्ट्रोडक्शन—IX

५. तदेव

६. सरकार, डी० सी० : **सलेक्ट इंस्क्रिप्सन्स**, पृ० २५७, पाद टिप्पणी–२

७. तदेव, पृ० २५६-दुन्मूल्याच्युत नागसेन ग……

मऊ ग्राम की नन्दी प्रतिमा : मिर्जापुर

राकेश तिवारी
राम गोपाल मिश्र

उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ

मिर्जापुर जनपद की राबर्टसगंज तहसील में चुर्क से १० कि० मि० की दूरी पर मऊ ग्राम स्थित है। यहां तक पहुंचने के लिये मिर्जापुर से बस अथवा रेल द्वारा चुर्क तक और वहां से विजयगढ़ दुर्ग के लिये जाने वाले वन-मार्ग पर स्थित मऊ ग्राम तक जीप द्वारा पहुँचा जा सकता है। गांव में वन-विभाग की चौकी के सामने निर्मित नवीन शिवालय के सामने नन्दी की ४० × ५५ से० मी० माप की प्रस्तर-प्रतिमा स्थापित है ।

शिव-मन्दिरों के सामने प्रायः बैठे हुए नन्दी की प्रतिमा स्थापित करने की परम्परा दिखती है। तद्नुसार यहाँ भी परम्परा का पालन किया गया है लेकिन इस प्रतिमा में नन्दी पर आरूढ़ उमा-महेश द्वारा क्रमशः बायां और दायां हाथ बढ़ा कर अपने पुत्रों त्रिशिख बाल कार्तिकेय और गजबदन गणेश को अंगुली पकड़ कर ऊपर चढ़ाते हुए दर्शाया जाना उल्लेखनीय है। ऐसा लगता है कि शिव-पार्वती अपने पुत्रों सहित नन्दी पर सवार होकर कहीं जाने की तैयारी में हैं (चित्र संख्या १२, १३)। नन्दी-प्रतिमा का ऐसा प्रदर्शन दुर्लभ है। नन्दी कण्ठ-माल और घण्टी-माला से सुसज्जित हैं। नन्दी और उमा-महेश के मुख-भाग भग्न हैं। शैली के अनुसार यह प्रतिमा लगभग ९-१० वीं शती ई० में निर्मित प्रतीत होती है।

चित्र सं० १–कुषाणकालीन आवास में अन्नपात्र, हुलासखेड़ा, लखनऊ

चित्र सं० २–हुलासखेड़ा से मिली गुप्तकालीन मुद्रा की छाप, लखनऊ

चित्र सं० ३–
कुषाणकालीन आवास
में जल-प्रणाली
हुलासखेड़ा, लखनऊ
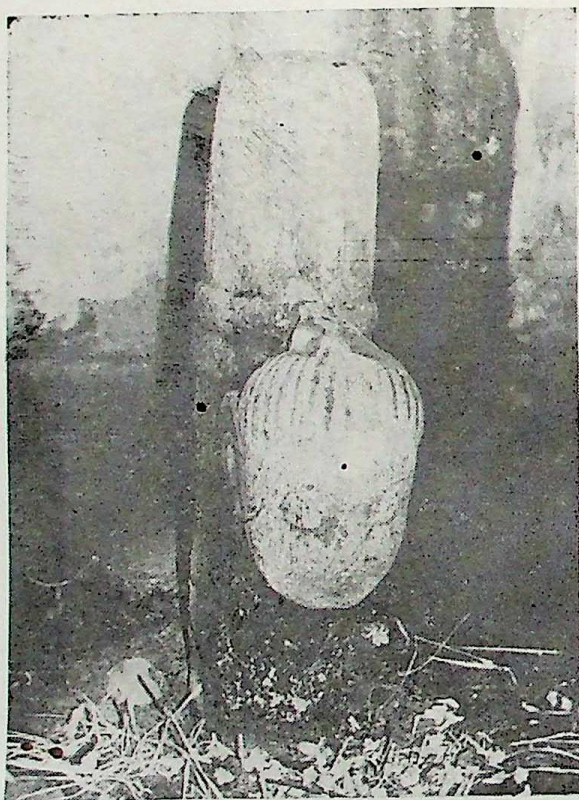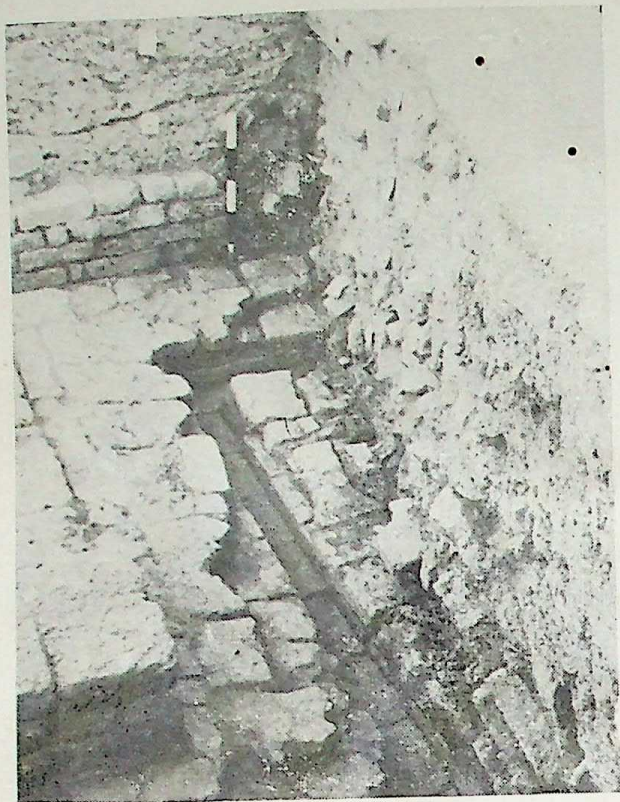
चित्र सं० ४–
कुषाणकालीन एकमुख
लिंग
हुलासखेड़ा, लखनऊ

चित्र सं० ५–
कार्तिकेय स्वर्ण प्रतिमा
(प्रथम शती ई० पू०)
हुलासखेड़ा, लखनऊ
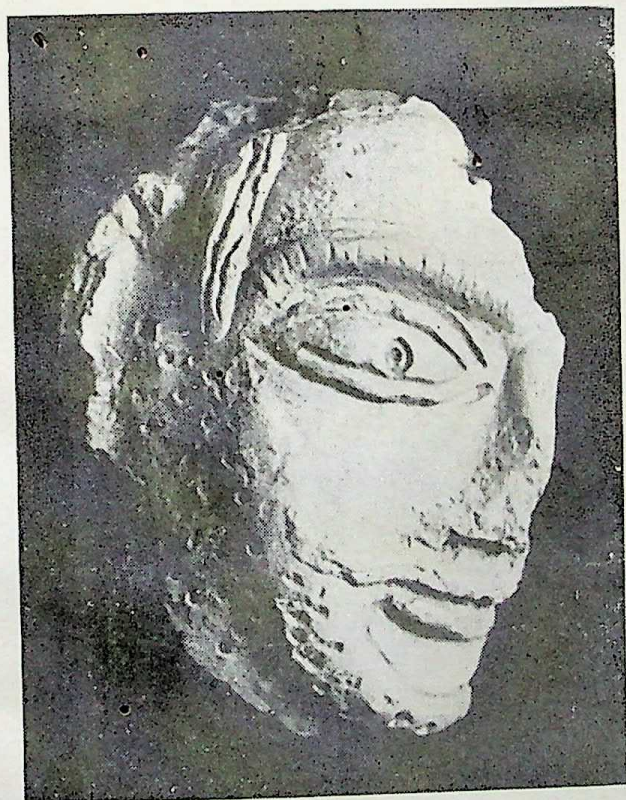
चित्र स० ६–
कुषाणकालीन मृण्मूर्ति
हुलासखेड़ा, लखनऊ

चित्र सं० ७–
शिव-प्रतिमा,
कुमासर महादेव
नैनीताल
९–१०वीं शती ई०
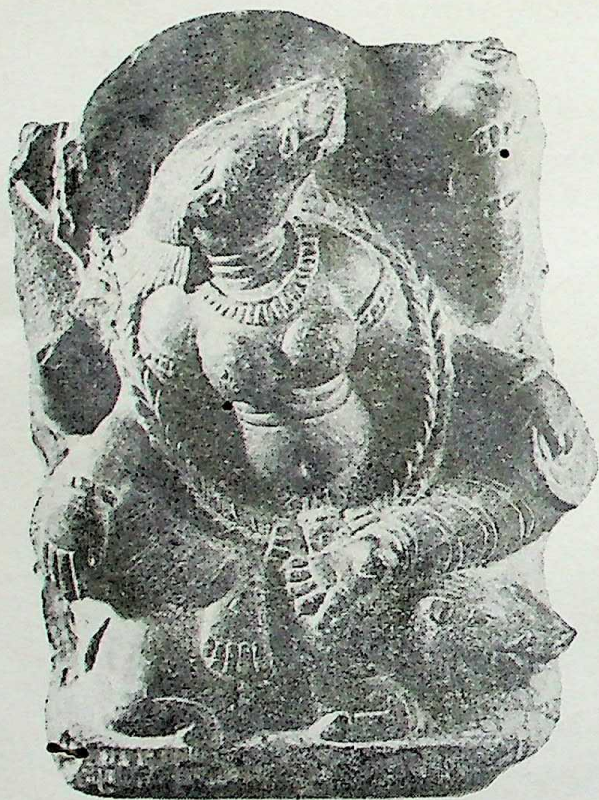
चित्र सं० ८–
वाराहारुढ़ा वाराही
अल्मोड़ा, ९–१०वीं शतीं ई०
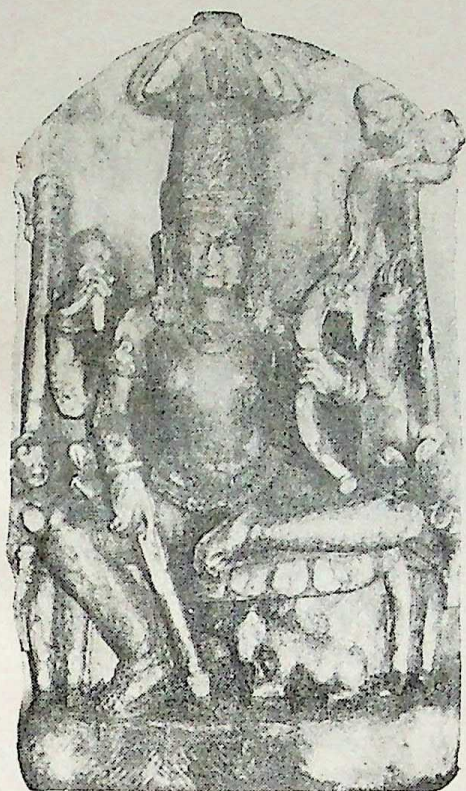
चित्र सं० ९–कामदेव (?), गड़सेरा, अल्मोड़ा
लगभग १०वीं शती ई०

चित्र सं० १०–११–चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंह निहंता प्रकार की स्वर्ण-मुद्रा का
अग्र और पृष्ठ भाग, ग्राम टिक्रीडेब्रा, मिर्जापुर
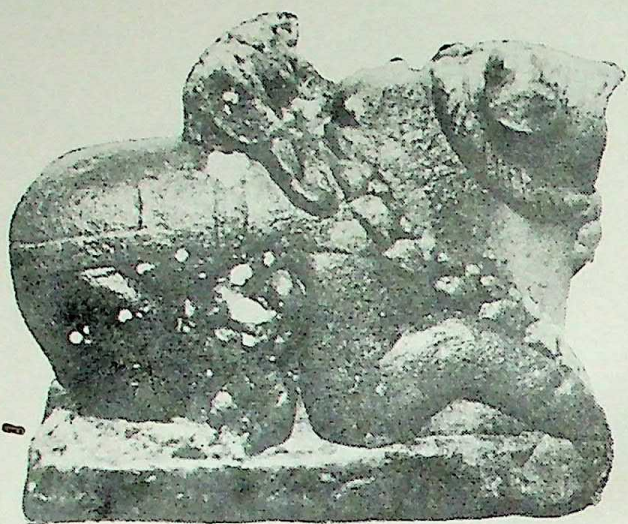
चित्र सं० १२—नन्दी, दायां पार्श्व, मऊ ग्राम, मिर्जापुर
लगभग ९वीं शती ई०
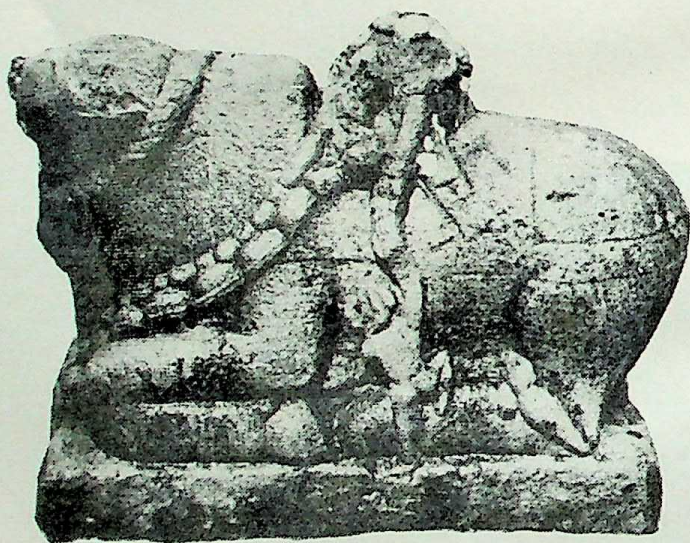
चित्र सं० १३—नन्दी, बायां पार्श्व, मऊ ग्राम, मिर्जापुर
लगभग ९वीं शती ई०

अनुक्रमणिका

स्थापित १९७६ रजिस्टर्ड

युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति

लखनऊ

संरक्षक	पद्मभूषण पं० अमृतलाल नागर; पद्मश्री डॉ० आर० वी० सिंह
अध्यक्ष	प्रो० रमेश चन्द्र मिश्र भू० पू० अध्यक्ष, भूगर्भ विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
उपाध्यक्ष	प्रो० एस० एस० मिश्र अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
महासचिव	प्रो० बी० के० टण्डन भूतपूर्व अध्यक्ष, जीव विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
कोषाध्यक्ष	गिरधर गोपाल मोहन मीकिन, लखनऊ
सचिव कार्यालय	रणवीर सिंह
सचिव सांस्कृतिक कार्य	जे० एस० सिन्हा मोहन मीकिन, लखनऊ
सचिव प्रशासन	पी० सरकार मोहन मीकिन, लखनऊ
सचिव (विधि कार्य)	रमेश कौल एडवोकेट, लखनऊ
संचालक	श्याम सुन्दर शर्मा, आइरन मैन

सलाहकार समितियां

स्वास्थ्य सलाहकार समिति

प्रो० वी० एस० दवे, अध्यक्ष न्यूरो सर्जरी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; प्रो० आर० पी० शाही, सर्जरी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; प्रो० पी० सी० दुबे, सर्जरी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० एस० एन० पाण्डेय, प्रोफेसर, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० मंसूर हसन, हृदय रोग विशेषज्ञ, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० आर० एम० माथुर, रीडर, दन्त चिकित्सा, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० एस० एम० जहीर, क्लीनिकल पैथालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० वी० डी० शर्मा, प्रवक्ता, अस्थि विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० ओ० पी० सिंह, प्रवक्ता, अस्थि विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० वी० बी० प्रताप, नेत्र विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ; डॉ० डी० के० छाबड़ा, प्रवक्ता, न्यूरो सर्जरी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

सांस्कृतिक कार्य सलाहकार समिति

डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी भूतपूर्व निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ; प्रो० रामचन्द्र शुक्ल, भूतपूर्व अध्यक्ष, फाइन आर्ट एण्ड पेन्टिंग विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; डॉ० टी० पी० वर्मा, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; डा० शरद नागर, सहायक सचिव, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ; श्री प्रेम सिंह किनोत, असि० प्रो० वोकल, भातखण्डे संगीत महाविद्यालय, लखनऊ; श्री मुनी सिंह, राष्ट्रीय सांस्कृतिक सम्पदा संरक्षण अनुसंधान केन्द्र, निराला नगर, लखनऊ।

प्रकाशन सलाहकार समिति

डॉ० शरद नागर, सहायक सचिव, उत्तर प्रदेश, संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ; श्री एस० पी० सिंह, समाचार सम्पादक, नेशनल हेराल्ड, लखनऊ; श्री ठाकुर प्रसाद सिंह; श्री कृष्ण नारायण कक्कड़, जयनारायण डिग्री कालेज, लखनऊ।

अभियान एवं सर्वेक्षण सलाहकार समिति

डॉ० पी० सी० पन्त, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; श्री विजय दत्ता, कार्य प्रबन्धक, मोहन गोल्ड वाटर, लखनऊ; श्री राकेश तिवारी 'रॉकी' उत्खनन एवं सर्वेक्षण अधिकारी, उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनद्दोला कोठी, कैसरबाग लखनऊ।

वित्त एवं लेखा सलाहकार समिति

श्री के० एन० वर्मा, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट, वर्मा एण्ड कम्पनी, हजरतगंज, लखनऊ; श्री रूप किशोर रायजादा, लेखाकार, मोहन मीकिन, लखनऊ।

ध्यानम् प्रकाशन समिति

प्रो० रमेश चन्द्र मिश्र, ७, राम कृष्ण मार्ग लखनऊ; श्याम सुन्दर शर्मा, आइरन मैन, मोहन मीकिन, लखनऊ; राकेश तिवारी, उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, रोशनुद्दौला कोठी लखनऊ; गिरीश चन्द्र सिंह, उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ; रणवीर सिंह, सहा० रजिस्ट्रार, भातखण्डे विद्यापीठ, डॉ० शरद नागर, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ।

फार्म—4

(ध्यानम् चतुर्थ अंक)

[देखिये नियम 8]

1	प्रकाशन स्थान	लखनऊ
2	प्रकाशन अवधि	वार्षिक
3	प्रकाशक का नाम, पता व राष्ट्रीयता	श्याम सुन्दर शर्मा (संचालक) युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति द्वारा श्री एस० पी० सिंह 3/1 कैसरबाग आफीसर्स कालोनी कैसरबाग, लखनऊ । भारतीय
4	सम्पादक का नाम, पता व राष्ट्रीयता	प्रो० रमेश चन्द्र मिश्र 7, राम कृष्ण मार्ग, फैजाबाद रोड, महानगर, लखनऊ । भारतीय
5	मुद्रक का नाम, पता व राष्ट्रीयता	विश्व मोहन पनार मुद्रक, 117 नजीराबाद, लखनऊ । भारतीय
6	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों ।	युवा परिभ्रमण एवं सांस्कृतिक समिति, लखनऊ ।

मैं श्याम सुन्दर शर्मा, पुत्र श्री० के० एन० शर्मा, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्णतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं ।

श्याम सुन्दर शर्मा
प्रकाशक के हस्ताक्षर